# योगशास्त्रान्तर्गत धर्म ।



( योगी रामाचारक के अंगरेजी ग्रन्थ
Advanced Course in Yogi Philosophy
का खण्डानुवाद )

लेखक
क़ादिराबाद जिला ग़ाज़ीपुर के जमींदार
ठाकुर प्रसिद्धनारायण सिंह बी. ए.

प्रकाशक
देशसुधार ग्रन्थमाला कार्य्यालय,
बनारस ।

प्रथमावृत्ति ] सन् १९२० [ मूल्य ॥)

RAJA HUKUMTEJ PARTAP SINGH OF PARTAPNER, ETAWAH.
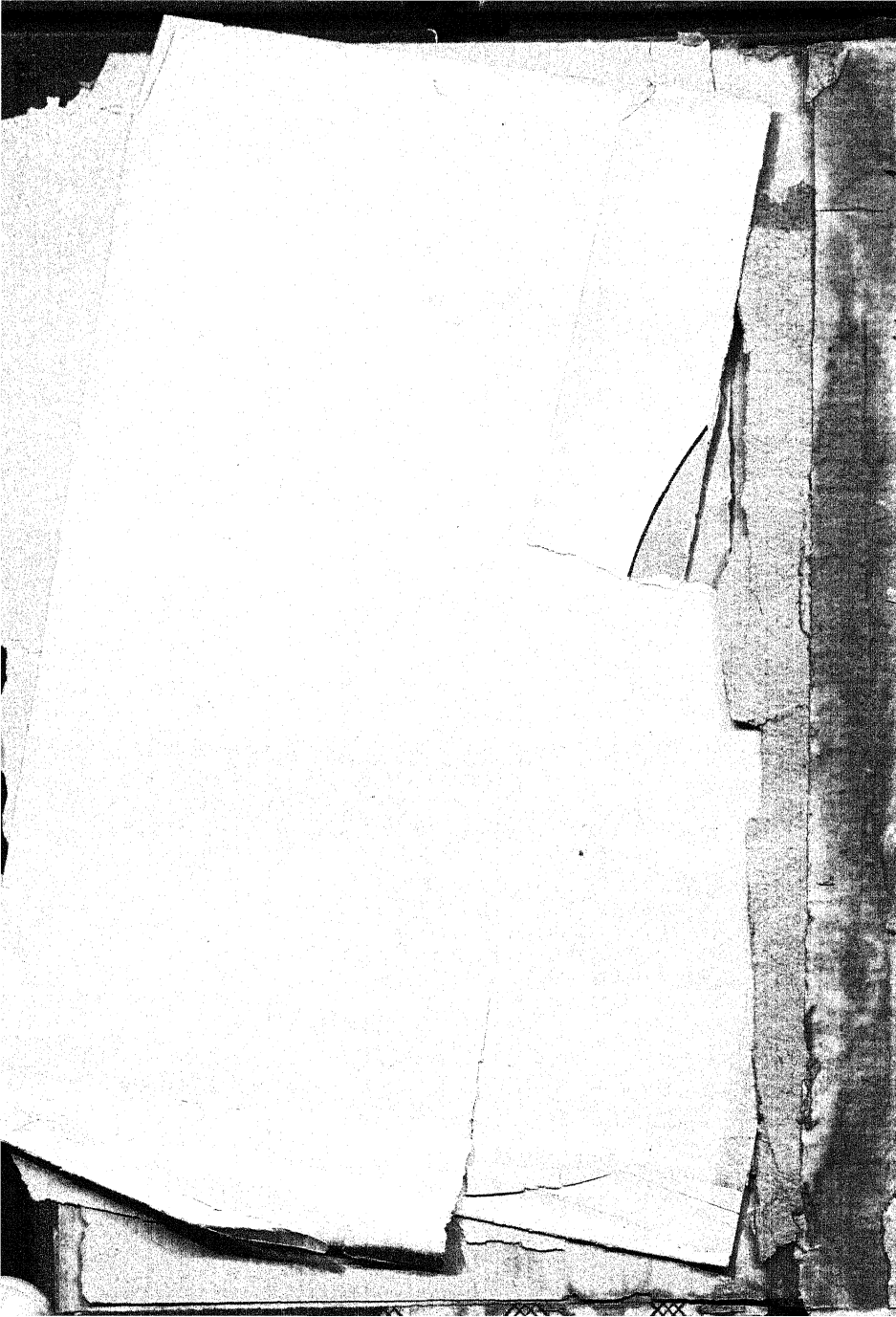
# समर्पण

चौहानकुल-भूषण

**श्रीमान् लेफ्टिनेन्ट राजा हुकुमतेजप्रताप सिंह जू देव**

प्रतापनेर नरेश समीपेषु—

राजन्,

श्रीमान् यौवन, धन, सम्पत्ति और प्रभुत्व के रहते हुए भी जनता के हित साधन को अपना अभीष्ट समझते हैं, यह बड़ी आशा और बड़े गौरव की बात है। इसी जनता की परमोन्नति और परम विकास के मार्ग इस "योगान्तर्गत धर्म" को मैं श्रीमान् की सेवा में सादर समर्पण करता हूँ।

श्रीमान् का कृपाभाजन,

प्रसिद्धनारायण

# भूमिका ।

इस संसार में बहुत थोड़े ही ऐसे मनुष्य होंगे जो कुछ न कुछ अपना धर्म न समझते हों। समझते तो क़रीब २ सभी हैं, पर सब की समझ में बड़े २ भेद हैं। इसी लिये कहा गया है कि:—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः
नैको ऋषिः यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य पन्था निहितो गुहायाम्
महाजनो येन गतः स पन्था ॥

इसी का परिणाम यह हुआ कि इसी धर्म के नाम पर नाना प्रकार के मतभेद, विरोध, वैर, पीड़न और युद्ध होते चले आये हैं। तौभी कौन ऐसा मनुष्य है जो सदाचरण के किसी न किसी नियम को कुछ न कुछ न मानता हो। धर्म है अवश्य, पर उसके नाना रूप व्यवहृत होते दिखाई देते हैं जिनमें भेद भी बड़ा है। बहुत से मनुष्यों को ऐसी अवस्था में संशय उत्पन्न होता है कि परस्पर विरोधी धर्मपथों में से किसका अनुसरण करें। कोई कहता है कि अमुक ऋषि या पैगम्बर द्वारा कहे हुए ईश्वर के आदेशों का अनुसरण करना धर्म है। दूसरा कहता है कि नहीं अपना ही अन्तःकरण प्रमाण है, इसी के संकेत के अनुसार आचरण करना चाहिये। तीसरा

कहता है कि जिस कार्य में बहुतों का और अधिक हित हो वही धर्म है। ये तीनों सम्प्रदाय वाले अपने मत को तो अटल अविचल समझते हैं पर अन्य दो सन्प्रदायों को हीन और तुच्छ समझते हैं। योगी लोग तीनों युक्तियों को एक ही सत्य के तीन भिन्न २ पटल समझते हैं, इस लिये इनकी समझ से किसी योगी को इस विषय में मतभेद नहीं दिखाई देता। योगी लोग सब व्यक्तियों को विकास-पथ में भिन्न २ सोपानों पर पाते हैं। इस लिये वे समझते हैं कि सभी जीव एक ही पथ पर हैं, यद्यपि उनकी अनुकूलतम आवश्यकताएं अपनी स्थिति के अनुसार भिन्न २ हैं। भिन्न २ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भिन्न २ आचरण ही होंगे, इस लिये वास्तव में एक ही धर्मपथ भिन्न और परस्पर विरोधी प्रतीत होता है। इन्हीं बातों को इस व्याख्यान द्वारा योगी रामाचारक जी ने भली भांति समझाया है! इसके अध्ययन और मनन से धर्म विषयिक सारे संशय मिट जाते हैं, भेद में एकता और विरोध में अनुकूलता दिखाई देने लगती है। हमारे भारतवर्ष में धार्मिक मतमतान्तरों की गिनती नहीं। इसी कारण से बहुतों का विश्वास है कि यहाँ की सामुदायिक उन्नति में भारी बाधाएँ हैं। परन्तु यदि लोग समझ जायँ कि एक ही धर्म नाना वेशों में नाना जीवों को पथ प्रदर्शन कर रहा है तो वैर विरोध के स्थान पर शान्ति और सहानुभूति का प्रवाह बहने लगे। योगी रामाचारक जी ने इस व्याख्यान द्वारा भिन्नता-भ्रम के निवारण का बड़ा भारी यत्न किया है। अब इस व्याख्यान के समझने की योग्यता भी हमारे देशवासियों को हो गई है और उस

के समझने की आवश्यकता भी बड़ी है। ऐसे व्याख्यानों का समय आगया है। इस लिये इस व्याख्यान का अनुवाद हिन्दी भाषा में किया गया है। मेरी आन्तरिक इच्छा है कि इस अनुवाद द्वारा हिन्दी भाषा भाषी जनता यथोचित लाभ उठावे। इसके संशोधन का भार प्रसिद्ध साहित्यसेवी लक्ष्मी-संपादक श्रीयुत लाला भगवानदीन जी ने अपने ऊपर लिया इस लिये मैं उनके अनुग्रह का ऋणी हूं।

काशी
मार्च सन १९२० ई०

प्रसिद्धनारायण सिंह।

# योगशास्त्रान्तर्गत धर्म

धर्म के पर्य्यायवाचक पुण्य, कर्तव्य, नियम, सत्कर्म इत्यादि शब्द कहे जाते हैं। इनमें से कौन ठीक है कौन नहीं, इसका विवेचन हम यहाँ न करेंगे। हम केवल इतना ही कहेंगे कि योगशास्त्र में धर्म का अर्थ 'उचित कर्म' है। इसकी परिभाषा को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये हम कह सकते हैं कि "कर्म और जीवन के उस नियम को धर्म कहते हैं जो व्यक्तिगत जीव की आवश्यकताओं के अनुकूलतम हो और उस जीव के विकासक्रम में उन्नति देनेवाला हो"। जब हम कहते हैं कि 'अमुक मनुष्य का धर्म' तो हमारा यह अभिप्राय उस मनुष्य के लिये, उसके विकास और जीव की आवश्यकताओं के निमित्त उपयुक्ततम कर्म से है।

हम ख्याल करते हैं कि यह पाठ समयोचित होगा और हमारे शिष्यों में से बहुतों की जिज्ञासा को पूरा करेगा। हम चारों ओर से उसी पुराने प्रश्न को सुनते हैं कि "उचित क्या है ?" मनुष्य उन पुराने उत्तरों से सन्तुष्ट नहीं होते, जो प्राचीन काल के लिये थे, और जो मज़हबी रसम-रिवाज और पूजा-पाठों को शुद्धाचरण और शुद्धचिन्तन से अधिक नहीं तो उनके समान अवश्य समझते हैं। उच्च कोटि का शिष्य उचित

और अनुचित को प्राचीन विभागों में असंगति देखता है, और जानता है कि बहुत सी बातें जो अनुचित कह कर घृणित समझी गई हैं इसी लिये घृणित हो गई हैं कि कुछ मनुष्यों ने उन्हें मनमानी रीति से वैसा कह दिया, और बहुत सी बातें जो उचित कही जाती हैं इसी कारण से ऐसी समझी जाती हैं। वह अपने चारों ओर दृष्टि डालता है और देखता है कि भिन्न २ देश और काल के उचित और अनुचितों में भेद है, और उचित अनुचित भावना सर्वदा बदला करती है, सुधारी जाती है और कोई २ त्याग भी दी जाती है। ऐसी दशा में शिष्य आचारशास्त्र के नियमों के सम्बन्ध में घबड़ा जाता है। उसने अपने प्राचीन मर्य्यादा और लक्षणों को तो त्याग दिया और अब घबड़ा गया कि कैसे उचित और अनुचित का विवेचन करें। एक ओर तो वह इस या उस प्राचीन मजहबी रस्म-रिवाज की धूम सुनता है, चाहे वे कैसे ही मनमाने और बुद्धि-विपरीत तथा वर्तमान आवश्यकताओं के प्रतिकूल क्यों न हों। दूसरी ओर वह "सभी बात अच्छी है" का व्याख्यान प्रायः उन मनुष्यों के मुंह से सुनता है जिनमें से अधिकांश प्रायः इस वाक्य के असली अर्थ ही को नहीं जानते। यह अर्वाचीन शिक्षा साधारण शिष्य को सन्तोषप्रद नहीं होती, क्योंकि उसका अन्तःकरण कहता है कि आचरण की कोई गति उचित होती है और कोई अनुचित (यद्यपि वह स्वयम् नहीं समझा सकता कि क्यों वह किसी बात को उचित और किसीको अनुचित समझता है)। और इसलिये शिष्य घबड़ा जाता है।

उसकी घबराहट और भी बढ़ जाती है, जब वह देखता है

कि जिसे हम उचित समझते हैं वही बात हमारे परिचित लोगों में से बहुतों को, जो अभी उतनी आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सके हैं, समझ ही में नहीं आती। वे हमारी उच्च श्रेणी और भावनाओं तक नहीं पहुंचे हैं। वह यह भी देखता है कि जो बातें मेरी दृष्टि में इन अविकसित मनुष्यों को उचित जान पड़ती हैं ( अर्थात् जिसे वे कर रहे हैं उससे बेहतर हैं ) वही हमारे लिये, जो उद्बुद्ध मनुष्य हैं, अनुचित होंगी। क्योंकि उनका आचरण करने से हम पीछे गति करने वाले हो जायंगे और बातों में वह इस बात को भी देखता है कि ये अविकासित मनुष्य इस लिये सत्कर्म की ओर झुकते और असत्कर्म से हटते हैं कि वे पुरस्कार की आशा और दण्ड से भय करते हैं। वे पुरस्कार उन मनुष्यों को अत्यन्त अनुचित स्वार्थ प्रतीत होते हैं, जो सत्कार्य को अपना केवल कर्तव्य समझ कर करते हैं। पर उसे विवश हो कर देखना पड़ता है कि इन मनुष्यों को ऐसे कृत्रिम रोचक और भयानक पथ की आवश्यकता है, क्योंकि ये धर्म की उच्च भावनाओं के ग्रहण में असमर्थ हैं।

ये और अनेक अन्य प्रश्न शिष्य को घबड़ा देने के लिये उठ खड़े होते हैं और वह अनुभव करता है कि अब प्राचीन परिमाण तो हट गये, पर अन्य नये उनके स्थान पर दृष्टि-गोचर नहीं होते। हम ख्याल करते हैं कि योगदर्शन के उस पटल का जिसे "धर्म" कहते हैं, यह छोटा पाठ उसे पथ-प्रदर्शन में सहायक होगा, और उस मार्ग को बतला देगा जो घास-पात से उस स्थान पर ढँक गया है, जहाँ पर वह अपनी

मात्रा में पहुँचा है। यह विषय इतना वृहत है कि इस थोड़े अवकाश में नहीं आ सकता, परन्तु हम थोड़े से ऐसे साधारण उन मूल तत्वों को बतला देने की आशा करते हैं, जिन्हें लेकर शिष्य बहुत कुछ तार्किक अनुमान कर सकता है।

आइये सदाचार के साधारण प्रश्न की संक्षेप में आलोचना करें और उसके सम्बन्ध में कुछ युक्तियों का विचार करें। धर्म, आचार-विज्ञान को कहते हैं और इसमें उस आकांक्षा का वर्णन है जो मनुष्य और उसके संघातियों के बीच में एकस्वरता का सम्बन्ध स्थापित किया चाहता है। पश्चिमीय मनुष्यों में धर्माचरण की तीन युक्तियाँ प्रचलित हैं, जो निम्नलिखित हैं:—(१) ईश्वरादेश की युक्ति, (२) प्रतिभा की युक्ति और (३) उपयोगिता की युक्ति। इन तीन युक्तियों में से प्रत्येक का अनुयायी अपनी ही विशेष युक्ति को सच्ची जानता है और शेष दो युक्तियों को भ्रान्त समझता है। योगदर्शन इन तीनों युक्तियों में सचाई पाता है और धर्म में इन तीनों को स्थान देता है। धर्म की स्पष्ट भावना प्राप्त करने के अभिप्राय से हम इन युक्तियों को एक एक करके विचारा चाहते हैं।

वह युक्ति जो धर्म को ईश्वरादेश के आधार पर स्थिर मानती है, कहती है कि धर्म और सदाचार का एक मात्र आधार ईश्वरीय आदेश है, जो पैगम्बरों, पुरोहितों और आचार्यों आदि द्वारा मनुष्य को प्राप्त हुआ है। इन लोगों के दिये हुये उन नियमों को, जिन्हें वे ईश्वर से प्राप्त बतलाते हैं, थोड़ा बहुत सभी जातियों ने अपने विकास की एक कक्षा

में विनीत भाव से स्वीकार किया है यद्यपि उस परमेश्वर के विषय में, जिसने उन नियमों को दिया, उनकी भावना बहुत ही भिन्न २ थी। ये नियम अपने मूल तत्वों में तो एक दूसरे से बहुत समता रखते थे, यद्यपि विवरण, छोटे उपनियमों और शिक्षाओं में बड़ा भेद था। सभी जातियों की बड़ी मज़हबी किताबों में सदाचार की थोड़ी बहुत पूर्ण संहिता पाई जाती है जिसके मानने के लिये बिना अपनी मति बुद्धि चलाये, मनुष्य बाध्य है, और इन संहिताओं की टीका जाति के केवल सर्वोच्च मजहबी अधिकारी ही कर सकते हैं। प्रत्येक जाति अपनी मजहबी किताबों की शिक्षा को जैसी कि वह उसके पुरोहितों द्वारा टीका की गई है, अखंडनीय प्रमाण मानती है और अन्य जातियों के ऐसे ही कथनों को झूठा समझती है। इन मजहबों में से अधिकांश सम्प्रदायों और शाखाओं में विभक्त होगये हैं और प्रत्येक अपनी २ प्रिय व्याख्या के अनुयायी हैं। परंतु सभी सदाचार के सम्बन्ध में मौलिक ईश्वरादेश का अवलम्ब करते हैं और तब फिर प्रत्येक जाति ने अपनी ईश्वरादिष्ट शिक्षाओं की भावना को परिवर्तित कर दिया है, जिससे उनकी भावना समय की परिवर्तित आवश्यकताओं के अनुकूल होती गई। ज्यों २ किसी जाति का विकास होता है त्यों २ उसकी आकांक्षाएं और आवश्यकताएँ परिवर्तित हुआ करती हैं। और उसकी पवित्र श्रुतियों की शिक्षाएँ ऐंठ पैंठ कर परिवर्तित अवस्थाओं के अनुकूल बना ली जाती हैं। ऐसी दशाओं में पुरोहित लोग कहते हैं कि ईश्वर का अभिप्राय "ऐसा २" था

न कि वैसा २" जैसा हमारे पूर्वपुरुष कल्पना करते थे। इसलिये कुछ काल के पश्चात् सदाचार की संहिता का प्रमाण इन्हीं पुरोहितों और आचार्यों की टीकाओं पर अवलम्बित रह जाता है न कि मानी हुई ईश्वरादिष्ट श्रुतियों की शब्दावलियों पर। इतर दो प्रकार की सदाचारसम्बन्धी युक्तियों के अनुयायी यह आपत्ति लाते हैं कि यदि सदाचारसम्बन्धी संहिता के प्रचार करने की इच्छा ईश्वर को रहती—ऐसे धर्माचरण के प्रचार करने की कि जो सर्व काल में सब मनुष्यों के लिये उपयुक्त होता—तो वह इस प्रकार स्पष्ट शब्दों में आदेश देता कि मूर्खातिमूर्ख मनुष्य भी उसको अन्यथा न समझ सकता, और अपने ज्ञान द्वारा ईश्वर समझ गया होता कि आगे चल कर मनुष्यों को क्या २ आवश्यकताएँ पड़ेंगी और इसलिये वह ऐसी आवश्यकताओं के लिये मौलिक ही आदेश में वा उसकी अनुयोजनाओं द्वारा कुछ प्रबन्ध कर देता। हम इसी पाठ में आगे चल कर इस युक्ति की हानियों और लाभों का विवेचन करेंगे।

दूसरी युक्ति इस बात का प्रतिपादन करती है कि मनुष्य अपनी प्रतिभा (अन्तःकरण) द्वारा धर्म और अधर्म का ज्ञान प्राप्त करता है। ईश्वर प्रत्येक मनुष्य को उसके अन्तःकरण द्वारा भले और बुरे का नैसर्गिक ज्ञान देता है जिससे वह तदनुकूल अपने को शासित कर सके। यह शाखा ऐसा प्रतिपादन करती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही अन्तःकरण से अपने आचरण की क्रियाओं में आदेश लेना चाहिये। यह शाखा इस बात पर ध्यान नहीं देती कि किसी भी दो मनुष्यों के

अन्त:करण समान नहीं होते और ऐसी युक्ति से यह बात अनुमित होती है कि धर्माचरण के विषय में इतने प्रतिमान हो सकते हैं जितने कि मनुष्य हैं, और यह कथन कि "मेरा अन्त:करण इस कार्य का अनुमोदन करता है" अन्य विवाद को सदाचार के विषये में स्थान ही न देगा। इस प्रश्न के उत्तर में कि अन्त:करण क्या है, लेखकों के मत भिन्न हैं। कुछ लोग तो कहते हैं कि यह मन का उच्च अंग है, जो मनुष्य को आदेश देता है। कुछ लोग कहते हैं कि यह केवल अचेतन मन है जो उस बात का उद्धरण कर रहा है जो उसमें (पूर्वावस्था में) भरी गई थी और अन्त:करण अनुभव से वृद्धि और संग से परिवर्तन प्राप्त करता है। कुछ लोग कहते हैं कि यह ईश्वर की वाणी मनुष्य से बोल रही है। अन्यों की अन्य ही समझ और युक्तियां इस अन्त:करण के विषय में हैं। हम इसी पाठ में आगे चल कर इस युक्ति पर और भी सविस्तर विचार करेंगे।

सदाचार शास्त्र की तीसरी शाखा उपयोगिता के आधार पर अवलम्बित है जिसे उपयोगितावाद कहते हैं। जिसका यह सिद्धान्त है कि जिस कार्य से अधिकतम भलाई अधिकतम मनुष्यों की हो वही कार्य सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं का उद्देश्य होना चाहिये। ऐसा ख्याल किया जाता है कि सब मानव-नियम इसी युक्ति के आधार पर बने हैं। ब्लैकस्टोन साहब, जो अंगरेजी कानून के बड़े भारी व्याख्याता हैं, कहते हैं कि मनुष्यों के कानून प्राकृतिक नियमों के आधार पर बने हैं, और ये प्राकृतिक नियम ईश्वरीय

नियमों के आधार पर हैं—जो भले बुरे के विषय में नित्य और परिवर्तनहीन नियम हैं—जिन्हें परमेश्वर मनुष्यों को उनकी बुद्धि द्वारा विदित करता है । ब्लैकस्टोन साहब आगे चल कर कहते हैं कि "यह प्राकृतिक नियम मनुष्यजाति के साथ ही प्रगट होने और ईश्वर द्वारा आदिष्ट होने के कारण अन्य नियमों की अपेक्षा गुरुतर है । कोई मानुषी नियम यदि इसके प्रतिकूल हो तो वह मान्य नहीं और जो मानुषी नियम पक्का और प्रबल है वह अपने प्राबल्य को व्यवहित अथवा अव्यवहित रूप से उसी ईश्वरादिष्ट नियम से लेता है"। यह सब बात बहुत सुन्दर और सरल जान पड़ती है और इससे मनुष्य को आश्चर्य होता है कि सभ्य जीवन पृथ्वी ही पर स्वर्ग क्यों नहीं है, तब तक आधुनिक कानून की रचना और कानूनी शासन स्मरण हो आता है, जो पहले के ऊपर उन्नति की गई है । प्राकृतिक नियमों की बातें करना तो बहुत सरल है, परन्तु उन नियमों के जीवन की भिन्न अवस्थाओं में प्रयोग करना बड़ा कठिन है। स्वयम् ब्लैकस्टोन साहेब भी इसका अनुभव करते हैं जब वे कहते हैं कि "अगर हम लोगों की बुद्धि सर्वदा स्वच्छ और पूर्ण होती तो कार्य सुखकर और सरल होता, हमें इसको छोड़ कर अन्य पथप्रदर्शक की आवश्यकता न होती, परन्तु प्रत्येक मनुष्य के अनुभव में इसके विपरीत ही आता है कि मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट और उसकी समझ मूर्खता और ग़लतियों से भरी है" । जिस मनुष्य को अदालतों का और अदालतों की कार्रवाइयों का बहुत अनुभव है, वह इस अँगरेजी कानूनाचार्य के अन्तिम वाक्य से सह-

मत होगा। यह बात सत्य है कि किसी जनता का कानून उस जनता की सर्वोत्तम सदाचार सम्बन्धी साधारण भावना का आदर्श है परन्तु भावना कानून की अपेक्षा शीघ्रतर परिवार्तित हो जाती है और कानून सर्वदा काल की गति में भले बुरे के विवेक के विषय में साधारण जनता की भावना की अपेक्षा थोड़ा पीछे रहता है। और मनुष्य के बनाये कानूनों में अनेक छिद्र रहा करते हैं और चालाक कानूनोल्लंघन करनेवाला वाजिब की वर्तमान भावनाओं के विपरीत कोई भी बड़ा अपराध कर सकता है, यदि वह बड़ी ही होशियारी से करे। कुछ मनुष्य अपनी आप सदाचार सम्बन्धी संहिता रखते हैं जिसका सार यह होता है कि यदि कानून के पंजे में गिरफ़्तार न हो तो कोई कार्य अनुचित नहीं है और इसलिये वे लायक़ वकीलों की सहायता से तदबीरें सोचा करते हैं कि कैसे कानून के चंगुल से बच कर अपना मतलब हासिल करें। कानून के चंगुल का भय न रहे तो उनका अन्त:करण निर्द्वन्द्व रहता है। यह आचरण की बहुत आसान और सादी युक्ति उन लोगों के लिये है, जो इसके नीचे रह सकते हैं। जस्टीनियन ने, जो बड़ा भारी रोमन क़ानून बनानेवाला था, मानुषी कानून की सारी युक्तियों को तीन प्रधान बातों में संक्षिप्त कर दी थीं कि "ईमानदारी से जीवन व्यतीत करो, किसीको क्षति न पहुँचाओ और प्रत्येक मनुष्य से उऋण रहो"। यह बहुत ही सरल और सुन्दर संहिता है, और यदि मनुष्य जाति ईमानदारी से इसका बर्ताव करती तो सारा संसार एक ही दिन में निर्दोष हो जाता, परन्तु प्रत्येक मनुष्य इन तीन शिक्षाओं में से प्रत्येक पर

अपनी टीका किया चाहता है और जानकर अथवा अनजान में इन्हें अपने पक्ष में और अपने वादी के विपक्ष में ऐंठता मरोड़ता है। संसार की वर्तमान अवस्था में ठीक यह बतला देना कि ईमानदार होना क्या है, वह कौन सा जीवन है जिससे किसी को क्षति न पहुंचे और प्रत्येक मनुष्य से उऋण कैसे हो सकते हैं बड़ा कठिन कार्य है। केवल इतना ही बतलाना बड़ा कठिन है कि किसका २ हम पर क्या २ ऋण है। जो कुछ हो सदाचार की भावना के विषय में जस्टीनियन की शिक्षा बहुत अच्छी और स्मरण रखने के योग्य है कि यथासाध्य इसका पूरा २ अनुसरण किया जाय। यह शिक्षा उन लोगों के अनुकूल होगी जो सब के साथ सत्य बर्ताव किया चाहते हैं परन्तु जो इससे भी उच्च शिक्षा के ग्रहण में असमर्थ हैं। परन्तु जो लोग जस्टीनियन की शिक्षा का अनुसरण करते हैं वे भी अपने उन पड़ोसियों को सन्तुष्ट न कर सकेंगे जो किसी अन्य ही बातों के वर्तने में—जिनमें से बहुतसी हास्यजनक भी होती हैं—धर्म समझे हुए हैं, जो बातें कि रसम-रिवाज समझी जाती हैं अथवा जिनपर मजहबी छाप लगी हुई है।

उपयोगितावाद के अनुयायी भी सदाचार के हेतु और इतिहास की व्याख्या में परस्पर मतभेद रखते हैं। कुछ तो ख्याल करते हैं कि सदाचार की उत्पत्ति ईश्वर से मनुष्य की बुद्धि द्वारा हुई, कुछ लोग और भी भौतिक दृष्टि से देखते हैं कि धर्म, कानून, सदाचार इत्यादि मनुष्य जाति के विकास के फल हैं। ये संचित अनुभवों के परिणाम हैं, ये उस क्रिया के परिणाम हैं जो कभी इस कार्य और कभी उस कार्य में

लगाई गई जब तक कि एक साधारण अच्छी बात स्थिर न हो गई। इन पिछली श्रेणीवालों की दृष्टि में धर्माधर्म और सदाचार के नियम केवल मनुष्य की बुद्धि के विषय हैं, इनसे दैवी आदेश या आध्यात्मिक ज्ञान से कुछ भी सन्बन्ध नहीं है। हर्बर्ट स्पेन्सर साहब, जो एक बड़े अँगरेज़ी वैज्ञानिक हो गये हैं, इस युक्ति के एक प्रधान व्याख्याता हैं। उनकी " The Data of Ethics नामक किताब इस शाखा के वाद का प्रमाण ग्रन्थ है।

सदाचरण की इन तीनों शाखाओं की भावनाएँ "धर्म" में समाविष्ट हैं, क्योंकि तीनों में कुछ २ सत्य पाया जाता है, और तीनों मिलकर योगशिक्षा के जामन से जमकर प्रबलपूर्णता को प्राप्त होती हैं। हम लोग देखेंगे कि कसे ये तीनों परस्पर प्रगट विरोधी शाखाएँ एक दूसरे से मेल खाती हैं, परन्तु ऐसा करने के पहले बेहतर होगा कि एकबार फिर उपयुक्त तीनों विचारों पर दृष्टि डाल लीजाय, और प्रत्येक की पूर्णता के विषय में जो आपत्तियां हैं उनका विवरण देख लिया जाय जिससे प्रत्येक की पृथक त्रुटियाँ और उनके सम्मिलित होने पर जब वे धर्म का रूप धारण करती हैं तब की उनकी शक्ति का निरीक्षण हो जाय। ऊपर लिखे ही क्रम से प्रत्येक का विचार कीजिये।

(१) ईश्वरादेश की युक्ति। अन्य युक्तियों द्वारा इस युक्ति में यह आपत्ति लाई जाती है कि ईश्वरादेश के विषय में पर्याप्त प्रमाण नहीं है। सदा से पुरोहित ही लोग सर्वशक्तिमान परमेश्वर के मुख बनते आये हैं, और सर्व काले से इन्हीं पुरोहितों के द्वारा ईश्वर के आदेश प्रगट हुए हैं। उपयोगितावाद के अनुयायी यह प्रतिपादन करते हैं कि ये कथित ईश्वरा-

देश ( जब कि इनके द्वारा प्रगटित सदाचार जनता की भलाई के लिये हुए हैं न कि केवल उपरोहितों ही के लाभ के लिये ) उस ऋषि की उच्च बुद्धि के परिणाम थे, जो कि अन्य मनुष्यों की अपेक्षा अधिक विचारवान होने से देख सकता था कि उनकी आवश्यकताओं के लिये कौनसी बात सर्वोत्तम है और तदनुकूल उसने सदाचार सम्बन्धी नियमों को थोड़ी या बहुत पूर्ण संहिताओं में सन्निविष्ट किया और यह प्रगट किया कि ये नियम ईश्वर से प्रगट हुए हैं। पुरोहित लोगों ने इन नियमों का निर्माण अपने पर न आरोपित करके ईश्वर पर आरोपित किया, क्योंकि वे जानते थे कि मनुष्य ईश्वर के दिये हुए नियमों का केवल मनुष्य के दिये नियमों की अपेक्षा अधिक आदर करेंगे। अन्तःकरणवाद के अनुयायियों का यह विश्वास है कि जिसे लोग ईश्वरादिष्ट नियम कहते हैं वह उस ऋषि या पैगम्बर की प्रतिभा और अन्तःकरण से उदित हुआ, जो अन्य मनुष्यों की अपेक्षा अधिक उन्नत होने के कारण आत्मा की वाणी को स्पष्टतर अनुभव कर सकता था, परन्तु उस अपने अन्तःकरण की वाणी को ईश्वर की वाणी समझता था और वैसा ही कह कर उसे प्रगट करता था। साधारण मनुष्य की प्रतिभा उस ईश्वरीय सन्देश के औचित्य को स्वीकार कर लेती थी और लोग अपने अन्तःकरण की सम्मति से उसे मानने लगते थे। इस ईश्वरादेश की युक्ति के विरोध में दूसरी यह आपत्ति लाई जाती है कि ऐसे ईश्वरादेश तो अनेक हैं जो विस्तार में जा कर एक दूसरे से प्रकट विरोधी हो जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक मजहब में उसके ईश्वरादेशों की माला है

जो उसी मजहब के ऋषियों, पैगम्बरों और आचार्यों द्वारा प्रगट हुई है। ऐसा ख्याल किया जाता है कि यदि ईश्वर अपने मनुष्यों के लिये सदाचरण की संहिता प्रगट करता तो उसके आदेश एक दूसरे से मिलते हुए होते और इस प्रकार द्योतित होते कि उनके विषय में कोई भ्रम ही न उत्पन्न होता। यह भी ख्याल किया जाता है कि इन अनेक आदेशों में से किसी एक का भी प्रमाण मानना असम्भव है क्योंकि बहुतों में से एक को चुन लेना असम्भव है, क्योंकि प्रत्येक ऋषि या पैगम्बर प्रबल दावा करता है कि मैंने ईश्वर से आदेश को प्राप्त किया और इस बात को तजवीज करने के लिये कोई भी निर्णय स्थान सर्वोच्च नहीं है। यह भी आपत्ति की जाती है कि बहुत सी बातें जो ईश्वर की आदिष्ट समझी जाती हैं वे सदाचार से सम्बन्ध ही नहीं रखतीं, किन्तु जीवनप्रणाली की विशेष रीति बतलाती हैं कि इस प्रकार किसी जानवर को मारना या जबह करना चाहिये, इस प्रकार के भोजन खाना चाहिये, ऐसे २ मजहबी दस्तूर अदा करने चाहिये इत्यादि। इन बातों पर भी उतना ही जोर दिया गया है जितना कि सदाचरण पर दिया गया है और ये बातें भी उचित अनुचित के उदाहरणों में समान ही ध्यान का विषय मानी गई हैं। और फिर इन कथित आदेशों में ऐसी बातों का भी विधान है जो अब सदाचार की वर्तमान भावना के बिल्कुल प्रतिकूल हैं। शत्रुओं को पशुवत् वध करने की दैवी आज्ञायें कही जाती हैं जिन्हें अब अन्तर्जातीय नियम निषेध करते हैं और जिनका अनुसरण अब केवल जंगली ही जातियां करती हैं। ऐसी

दशा में तो ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्यों की प्रतिभा या बुद्धि से अब सदाचार का आदर्श ईश्वर के आदेशों की अपेक्षा उन्नतर हो गया है। यही बात बहुविवाह और क्रीतदास की प्रथा के सम्बन्ध में भी है। ये बातें दैवी आदेशों में निषिद्ध नहीं हैं, किन्तु विहित और आज्ञापित हैं। इस प्रकार सदाचार सम्बन्धी दैवी आदेशों की युक्ति के विरुद्ध अनेक आपत्तियां की जाती हैं, परन्तु प्रधान आक्षेप यही है कि ईश्वर के आदेश की सत्यता के विषय में पर्याप्त प्रमाण नहीं है और बुद्धि यह शिक्षा देती है कि जिसे आदेश कहा जाता है वह ऋषि या पैगम्बर की मानवी बुद्धि का परिणाम है और उसका इस रूप से इस लिये प्रचार हुआ कि या तो मनुष्य नियम-बद्ध और सम्पत्तिमान हों या इस लिये कि पुरोहित लोग अख्तियारदार और बड़े माने जायें, अथवा दोनों बातें सिद्ध हों। धर्म के सम्बन्ध में योगशास्त्र इन आपत्तियों को स्वीकार करता है, परन्तु अपनी शिक्षा में इनका उत्तर भी देता है जो आगे चल कर देखा जायगा।

( २ ) प्रतिभावाद। इस युक्ति के विरुद्ध प्रायः यही आपत्ति लाई जाती है कि अन्तःकरण केवल शिक्षा, संग, जाति और वयःक्रम आदि का परिणाम है, क्योंकि एक मनुष्य का अन्तःकरण एक मक्खी को भी मार डालने को अनुचित समझता है, साथ ही दूसरे का अन्तःकरण शत्रु को मारडालना उचित समझता है। एक मनुष्य का अन्तःकरण कहता है कि अपने यत्सर्वस्वद्वारा अतिथि का सत्कार करो और वैसे ही दूसरे (ठग) का अन्तःकरण कहता है कि अतिथि का यत्सर्वस्व

हरण कर लो। किसी २ अपराधी श्रेणी का अन्तःकरण उस बिल्ली के समान होता है जो मलाई और मांस के चुरा लेने में कोई दोष नहीं समझती, और यदि नहीं चुराती तो केवल भय वश। मानव प्रकृति, जाति, और इतिहास का अध्यायी जानता है कि अन्तःकरण अधिकांश जाति, समय, संग और वृत्ति का परिणाम है। वह किसी भी मनुष्य के अंतःकरण को सब मनुष्यों के लिये सदाचरण का हमेशा के लिये उद्गमस्थान न मानेगा। वह देखता है कि एक अविकसित मनुष्य के अन्तःकरण से निकले हुए आचार नियम हमारे काल के साधारण मनुष्य की मर्य्यादा से बहुत ही नीचे होंगे और उच्च विकसित मनुष्य के अन्तःकरण से उदित आचार नियम ऐसे होंगे जिनका अनुसरण करना अब के भी साधारण मनुष्यों से कठिन होगा, क्योंकि इन नियमों में विचार और आचार सम्बान्धिनी उच्च शिक्षा और सूक्ष्म विवेक का समावेश होगा। और फिर इसी अन्तःकरण ने कुछ मनुष्यों से ऐसे २ कार्य करा दिये हैं जिन्हें अब हमारा अन्तःकरण अनुचित बतलाता है। जीवित मनुष्य चिता पर रख कर जला दिये गये हैं और उनकी जीभ में छिद्र बनाया गया है, उन्हें शारीरिक और मानसिक यातनायें उन सन्तापकारियों के अन्तःकरण द्वारा पहुँचाई गई हैं, जो वैसे ही निष्कपट थे जैसे उनके द्वारा सन्तापित मनुष्य थे।

यदि अन्तःकरण वाली शिक्षा चुपचाप मान ली जाय तो अधिक संख्या के अन्तःकरण मिल कर कम संख्या के अन्तःकरण वालों के लिये सन्ताप उत्पन्न कर दें, और पिछले जमाने में ऐसा कई बार हुआ भी है। इस प्रकार आप देखते हैं कि

अन्तःकरण के अचूक पथप्रदर्शक होने वाली युक्ति पर इसके प्रतिपक्षियों के बड़े कड़े २ आक्रमण हो सकते हैं। तथापि धर्म सम्बन्धी योगशास्त्र इन आपत्तियों को मानते हुए भी इस प्रतिभा या अन्तःकरण की युक्ति में बहुत सचाई पाता है और इस युक्ति को अपनी व्यवस्था में स्थान देता है, जैसा आगे चल कर देखा जायगा।

( ३ ) उपयोगिता की युक्ति। इस युक्ति पर भी बड़ा कड़ा आक्रमण होता है कि यह नितान्त स्वार्थ की भावना है—कि सदाचार का आधार सुख माना जाता है—एक व्यक्ति का सुख पड़ोसियों के सुख द्वारा परिवर्तित—संक्षेप में "अधिक से अधिक मनुष्यों का अधिक से अधिक सुख–कि ऐसे आधार पर मनुष्य की उच्चतर भावी नहीं अवलम्बित हो सकती, क्योंकि यह आधार नितान्त सांसारिक तथा भौतिक सत्ता का है। इसके उत्तर में उपयोगितावादी स्वभावतः कहता है कि आचार की कोई भी संहिता क्यों न हो, थोड़ा बहुत स्वार्थ अवश्य उसका आधार होगा, क्योंकि जो मनुष्य दैवी पुरस्कार या प्रसन्नता के हेतु कोई काम करता है अथवा दैवी दण्ड या अप्रसन्नता के भय से किसी काम से बाज रहता है वह भी तो उसी प्रकार स्वार्थी है जैसे वह मनुष्य जो दुनयवी सुख और असुख की भावना से प्रेरित होता है। दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि इस नियम के अनुसार कार्य करने में साधारण मनुष्य इस बात की ओर प्रेरित होगा कि जहाँ तक हो सके अपने लिये सुख प्राप्त करो, अन्यों के लिये जितना कम हो उतना कम सुख छोड़ो, क्योंकि कोई कारण

नहीं दीख पड़ता कि क्यों इससे भिन्न कार्य किया जाय। सारांश यह कि मनुष्य इस मानव नियम के अक्षरों ही का अनुसरण करेगा और एक इंच भी आगे न बढ़ेगा। विचारतः यह आपत्ति ठीक हो सकती है, परन्तु, इस निठुर युक्ति के रहते हुए भी मनुष्य उन उच्च प्रेरणाओं के लिये खुला हुआ है जो उसकी आत्मा से आती हैं और जिनसे उपयोगितावादी और उनके विपक्षी दोनों अनभिज्ञ हैं। इसी आपत्ति का रूप इस भावना में भी पाया जाता है कि उपयोगितावाद उन्हीं लोगों के चित्त पर प्रभाव डालता है जिनकी बुद्धि बढ़ी रहती है (अर्थात् योगशास्त्र की दृष्टि से जो विकसित जीव लोग हैं), और साधारण मनुष्य इस युक्ति द्वारा उच्च कार्य करने के लिये उत्तेजित न होंगे, और यदि वे इसे कुछ धारण भी करेंगे तो केवल अपनी ही स्वार्थपरता का बहाना स्वरूप समझ कर। वे अपने सहयोगी मनुष्यों की भलाई पर कुछ भी ध्यान न देंगे और न भावी पीढ़ी की भलाई पर ध्यान देंगे। आपत्तिकारकों का यह विश्वास है कि इस युक्ति के अनुसार जो मनुष्य अपने सजातियों की भलाई के लिये काम करता है वह बड़ा भारी मूर्ख है, क्योंकि वह केवल एक भावना के लिये अपनी भलाई और भौतिक लाभ को फेंक रहा है। (यह आपत्ति उस बात को ध्यान में नहीं लाती कि उन्नत मनुष्य दूसरों ही को सुखी बनाने में अपना अधिकांश सुख पाता है)। सदाचार की इस युक्ति में एक यह आपत्ति और भी लाई जाती है कि अधिकांश का सुख, यह एक अयोग्य परिमिति है, क्योंकि यद्यपि अधिकांश लोग सुखी रहें तथापि अल्पांश मनुष्य वैसे नहीं रह

सकते हैं, और सच बात तो यह है कि उनमें से कुछ लोग तो बहुत ही दुःख और कष्ट में रहेंगे। इस आपत्ति का समाधान उन मनुष्यों से प्राप्त होता है जो अध्यात्म में उन्नति किए हुए हैं, क्योंकि ऐसे मनुष्य जानते हैं कि कोई मनुष्य पूर्णरूप से सुखी नहीं हो सकता जबतक सब न सुखी हो जायें, और आदर्श सुख तो तबतक हो ही नहीं सकता जबतक एक भी मनुष्य ऐसे नियम के द्वारा वहिर्गत रह जाता है। ईश्वरादेश के अनुयायी लोग इस उपयोगिता की युक्ति पर यह भी आपत्ति लाते हैं कि यह युक्ति ईश्वर और ईश्वरेच्छा की बिलकुल उपेक्षा करती है। प्रतिभावाद के माननेवाले उपयोगितावाद पर आपत्ति लाते हैं कि यह युक्ति अन्तःकरण के अस्तित्व को अस्वीकार करती है और उसके स्थान पर सब सदाचार का आधार मनुष्य की बुद्धि को ठहराती है कि जिससे बुद्धि की परीक्षा से ठहराए हुए भले और बुरे के अतिरिक्त भली और बुरी बात के विवेक करने का मार्ग ही नहीं है, और बुद्धि की यह परीक्षा मनुष्य ही के तर्क द्वारा परिवर्तित, परिमार्जित और विलोपित भी की जा सकती है। इन आपत्तियों को हिन्दू योगशास्त्र का धर्म स्वीकार करता है और इस युक्ति की त्रुटियों को मानता हुआ यह समझता है कि यही युक्ति यद्यपि नितान्त सत्य नहीं है पर इसमें बहुत कुछ सचाई है, और यह भी धर्म के स्तम्भों में से एक स्तम्भ है, और शेष अन्य दो युक्तियाँ भी स्तम्भ हैं जो धर्म के संगठन को स्थापित किए हुए हैं।

धर्म इन प्रगट मतभेदों को यथास्थान धारण करता है।

वह इस प्रत्येक दृष्टि को खंडतः सत्य मानता है। पूर्णसत्य के ये अंग हैं,—परन्तु अकेले २ नितान्त निर्बल और अपूर्ण हैं। यह सब की सामग्री को लेकर और उन सबको मिलाकर एक पूर्ण व्यवस्था स्थापित करके सबको परस्पर मिला देता है, बल्कि विश्व की व्यवस्था में एक पूरा संगठन निर्मित पाता है और समझता है कि प्रत्येक शाखा के विचारशील केवल एक ही स्तम्भ को देख रहे हैं और अपने प्रिय ही स्तम्भ को सारे संगठन का मूलाधार मानते हैं और शेष दो स्तम्भ उनकी दृष्टि से छिपे रहते हैं, क्योंकि ऐसे द्रष्टा केवल एक स्थान से दृष्टि-पात करते हैं। धर्म की यह शिक्षा इस समय बहुत ही आवश्यक है क्योंकि आजकल मनुष्य पुण्य पाप तथा सदाचार के विषय में मानसिक और आध्यात्मिक गड़बड़ में पड़ गए हैं। आजकल के मनुष्य तीन श्रेणियों में विभक्त हैं:—

(१) प्रथम वे लोग हैं जो ईश्वरादेश पर विश्वास तो करते हैं पर आचरण और बर्ताव व्यवहार में उसकी उपेक्षा करते हैं, क्योंकि उन्हें यह असाध्य प्रतीत होता है। ये मनुष्य अनुभव और मानुषिक रिवाजों द्वारा परिमार्जित ईश्वरादेश को मानते हैं। (२) दूसरे वे लोग हैं जो प्रतिभा और अन्तःकरण पर भरोसा करते हैं परन्तु साथ ही समझते हैं कि हम अनस्थिर आधार पर स्थित हैं। ये लोग वस्तुतः रसम-रिवाज तथा देश के कानून के अनुसार चलते हैं पर अपनी भावनाओं द्वारा उनमें कुछ परिवर्तन कर लेते हैं, और (३) तीसरे वे हैं जो केवल तर्क का भरोसा रखते हैं। पर ये भी उतना परिवर्तन कर लेते हैं जितना वर्तमान कानून प्रेरणा करता है और जितना प्रभाव वे

प्रेरणाएँ डालती हैं जो मन की उच्च भूमिकाओं से आती हैं। यद्यपि वे मनुष्य इन उच्च भूमिकाओं से आईहुई बातों की सत्ता ही को नहीं मानते। हम यह आशा करते हैं कि धर्म का अध्ययन हम लोगों में से कुछ मनुष्यों के लिये इस विषय को सरल बना देगा। इसमें सन्देह नहीं कि धर्मविषयिक यह छोटा सा पाठ केवल दिग्दर्शन मात्र है, पर हमें विश्वास है कि हम लोगों में से कुछ को यह ऐसी सहायता देगा कि हम इस विषय का अपने मन में व्यवस्थान कर सकेंगे और सरलता-पूर्वक इसके सदाचार सम्बन्धी भावों को ग्रहण कर सकेंगे, और उन सत्य बातों से लाभ उठा सकेंगे जो हमारे मनों में जीवन की कथित तीन दिशाओं से आ रही हैं। अब देखना चाहिये कि धर्म की भावना में क्या क्या है।

इस विषय के संक्षेप विचार में हम अपने शिष्यों से निवेदन करेंगे कि वे खुले चित्त से इस पर विचार करें। अर्थात् क्षण भर के लिये वे पूर्वसंग्रहीत भावनाओं और युक्तियों को पृथक् कर दें, और विना किसी पूर्वाग्रह के यथा-साध्य हमारी शिक्षा को सावधान सुनें। हम यह नहीं चाहते कि वे हमारी इस शिक्षा को उस दशा में भी मान लें जबतक यह उनकी बुद्धि और प्रतिभा पर असर न पहुँचावे, परन्तु हम यह निवेदन अवश्य करते हैं कि निष्पक्ष होकर इसे वे ध्यान से सुनें अर्थात् निष्पक्ष न्यायाधीश की भांति धैर्यपूर्वक सुनें, न कि मेहनताना पाये हुए विपक्षी वकील की भांति बिना पूरा सुने ही हुए त्रुटियां निकालने और आपत्तियां उपस्थित करने लग जायें। हम केवल इतना ही चाहते हैं और विद्यार्थी

को इतना स्वीकार कर लेना कुछ अनुचित नहीं है। हम आपको यह नहीं बतलाना चाहते कि कैसे कर्म करना चाहिये, किन्तु हम धर्म के साधारण मूल तत्त्वों को आपके विचारार्थ आपके सम्मुख उपस्थित किया चाहते हैं।

इस धर्म के शास्त्र पर विचार करने के लिये यह उत्तम होगा कि पहले हम दिखावें कि उपर्युक्त सदाचार सम्बन्धी तीन युक्तियों को यह धर्मशास्त्र किस दृष्टि से देखता है। हम बारी २ से प्रत्येक युक्ति को उठावेंगे। परन्तु ऐसा करने के पहले हम अवश्य आपसे निवेदन कर लेंगे कि आप सर्वदा स्मरण रक्खें कि योगशास्त्र की यह प्रधान मौलिक युक्ति है कि सब जीव सर्वदा वृद्धि और उन्नति के पथ पर हैं—पथ पर वृद्धि और प्रगति की भिन्न २ कक्षाओं में हैं। आध्यात्मिक विकास पूर्ण बल से काम कर रहा है और प्रत्येक जीव अपने गत कल्ह पर आज रचना रच रहा है और आगामी कल्ह की नींव स्थापित कर रहा है। उसके गत कल्ह में वर्तमान जीवन से लेकर पिछले सब जीवनों की बातें हैं। और उसके आगामी कल्ह में इस वर्तमान जीवन के शेष दिनों से लेकर भावी जीवनों की सब बातें हैं। जीवन इन थोड़े ही वर्षों तक इसी भौतिक देह में रहना नहीं है। जीवन के अस्तित्व में अन-गिनत गत कल्ह बीत गये और सारा अनन्त काल आगे पड़ा है, जो अविच्छिन्न प्रगति की उत्तरोत्तर उन्नत २ सोपान लाता जाता है, और उच्च लोकों की भूमिका पर भूमिका अभी आगे तै करने के लिये पड़ी है। हम इस तथ्य पर बहुत विस्तार नहीं किया चाहते, परन्तु इसे इसलिये प्रगट कर

देते हैं कि आपको स्मरण हो जाय कि ये देहधारी जीव, जिन्हें हम अपनी चारो ओर पुरुष और स्त्री के वेश में देख रहे हैं, उन्नति की चढ़ाई और विकास की भिन्न २ कक्षाओं का द्योतन कर रहे हैं और इसलिये आवश्यकतावश जीव के लिये बहुत ही भिन्न २ आवश्यकताओं का होना अनिवार्य है। योगी लोग सदाचार के जिन उन्नतोन्नत आदर्शों को दिन पर दिन देख रहे हैं वे इस बात का द्योतन कर रहे हैं कि पृथकत्व की भावना और भ्रान्ति मनुष्य जाति से दिन पर दिन अधिक २ दूर होती जाती है और मनुष्यों के चित्तों में एकत्व की चेतना का दिन पर दिन उदय हो रहा है। यह उगती हुई चेतना मनुष्यों को उन बहुत सी बातों में बुराई दिखलाती है जिन्हें वे पहले भली समझते थे। यह मनुष्यों से दूसरों के दुःखों और शोकों को अनुभव कराती है और आसपास के लोगों के सुख और आह्लाद का उपभोग कराती है। यह हमें दूसरों के प्रति अधिक दयालु और उदार बना रही है, क्योंकि यह हमें आपस के सम्बन्ध के लिये अधिक २ चेतनायुक्त बनाती जाती है। यही कारण है कि वह भ्रातृभाव, जो मानवजाति पर अधिक २ अधिकार कर रहा है, अधिक २ बढ़ता जाता है। यद्यपि बहुत से लोग इस दशा के वास्तविक कारण से अनभिज्ञ हैं।

जीव के विकास का परिणाम यह होता है कि मानव जाति के सदाचार और विचार के उच्चातिउच्च आदर्श प्रगट होते हैं और इसी कारण सदाचार सम्बन्धी भावनाओं में परिवर्तन होता है जैसा कि उस प्रत्येक इतिहास के अध्यायी पर विदित

है, जो समय के चिन्हों को अवधानपूर्वक देखता है। धर्म की इस युक्ति को समझ लेने से हम सदाचार के भेदों को समझने में समर्थ हो जाते हैं और अपने उन भाइयों को निन्दित नहीं समझते जो हमारी अपेक्षा सदाचार के स्थूलतर आदर्श धारण करते हैं। जितना ही ऊंचा विकास होगा उतना ही ऊंचा सदाचार का आदर्श होगा, यद्यपि इस विकास से जीव के बहुत से सदाचार सम्बन्धी वे प्राचीन नियम और भाव पृथक् होकर दूर हटते जाते हैं जो गत काल में इसके लिये सर्वोत्तम थे।

योगशास्त्र ईश्वरादेश की युक्ति को धर्म संगठन का एक प्रधान स्तम्भ समझता है। इसकी यह धारणा है कि मनुष्य जाति के इतिहास में भिन्न अवसरों पर परमात्मा ने कुछ उन्नत जीवों में ऐसा ज्ञान उदित कर दिया है कि जिससे वे मानवजाति को तत्कालानुकूल उपदेश दे सके हैं। ये प्रतिभा-प्राप्त मनुष्य वे जीव थे जो स्वेच्छापूर्वक विकास की उच्चतर भूमिकाओं या लोकों से उतर कर अपने अविकसित भाइयों को लाभ पहुँचा रहे हैं। वे अपने आसपास के मनुष्यों की भांति ही जीवन बिताते हैं और ऋषि, पैगम्बर और द्रष्टा होकर लोगों का उपकार किया करते हैं। ऐसे लोगों का वर्णन बहुत काल से हमें प्राप्त होता आया है, यद्यपि लोगों ने उस वर्णन को बहुत कुछ कहानियों, मिथ्याविश्वासों और पौराणिक कथाओं द्वारा ऐंठ ग्वैंठ कर बढ़ा दिया है और उनमें क्षेपक मिला दिया है। ये लोग कदाचित् ही लिखते थे, परन्तु इनके उपदेश अन्यों द्वारा ( प्रायः बहुत काल बीत जाने पर ) लिखे

जाकर अब भी उन ऋषियों और पैगम्बरों के उपदेशों का अच्छा नमूना दिखा रहे हैं, यद्यपि उन उपदेशों पर लेखकों ने बहुत कुछ अपना रंग चढ़ा दिया है। ये पैगम्बर और ऋषि लोग उन्नति और विकास की भिन्न २ कक्षाओं के जीव थे, कुछ तो सिद्धि की बड़ी ऊँचाई से उतरे हुये थे और अन्य उनकी अपेक्षा नीचे की भूमिकाओं के जीव थे, परन्तु प्रत्येक ने अपने मनुष्यों के लिये वे शुभसंवाद दिये जो उस काल के अनुरूप उन मनुष्यों की आवश्यकताओं के लिये उपयुक्त थे। इन सन्देशों को मनुष्यों ने थोड़ाबहुत स्वीकार किया और इन शिक्षाओं से उन मनुष्यों में कुछ परिवर्तन आया, जिससे भावी सन्तान को नींव देने के लिये सहायता मिली। अब यदि कहा जाय कि हम लोग उनकी बहुत सी शिक्षाओं के पार इतना आगे बढ़ आये और आज उनकी कुछ नित्य शिक्षाओं को छोड़कर अन्य प्रायः सब शिक्षाओं को पीछे छोड़ देने को समर्थ हो गये हैं, तो यह बात उन पैगम्बरों की शान के खिलाफ न समझी जानी चाहिये। मजहबी फिर्के तो उन उपदेशों को अमोघ समझने का आग्रह करते हैं, और यह विश्वास करते हैं कि वे उपदेश सब काल के सब मनुष्यों के लिये दिये गये थे। क्षणभर विचार करने से इस भावना की भ्रान्ति प्रमाणित हो जावेगी। उदाहरण के लिये हजरत मूसा को लीजिये और देखिये कि उनके उपदेश उनके समय के मनुष्यों के लिये कैसे उपयुक्त थे, और कैसे उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप थे, परन्तु उनमें से अनेक यदि आज व्यवहार में लाये जायँ तो कैसे अनुपयुक्त होंगे! इसमें सन्देह

नहीं कि हज़रत मूसा के उपदेशों के मूलतत्व अब भी पूरे बल से कार्य कर रहे हैं, परन्तु आचार के अप्रधान नियम जो यहूदी लोगों के लिये उस समय निर्मित हुए थे अब लोग उनके बहुत पार आ गये हैं और कोई भी उनके पालन करने का उद्योग नहीं करता। ईश्वरादेश के विषय के अनेक दोष-दर्शी हज़रत मूसा के दिये हुये नियमों में अनेक दोष पाते हैं और उनमें वहशीपन और क्रूरता दिखलाते हैं, जिनमें से अनेकों आज के आचारादर्श के बिलकुल प्रतिकूल हैं। तथापि इन शिक्षाओं में से प्रत्येक का एक निश्चित अभिप्राय था और इनका उद्देश्य शनैः २ विकसते हुए उस काल के जीवों की सहायता करना था। इन सब शिक्षाओं का अभीष्ट मनुष्य के विकास में सहायता पहुँचाना था, उसकी तत्काल की रहनि के थोड़ा ऊपर का आदर्श बतलाना था। उन शिक्षाओं में से कुछ, जो आज हमें इतनी क्रूर प्रतीत हो रही हैं, यदि उस काल की दशा की दृष्टि से जाँची जायें तो जान पड़ेगा कि जो रहन चलन उस समय प्रचलित थीं उनके ऊपर ले जानेवाली ये शिक्षायें थीं। हम लोगों को, जो अब विकास में अधिक उन्नति कर गये हैं, ये शिक्षायें नीचे की भूमिका की प्रतीत होती हैं, परन्तु यदि हम उसी कक्षा में होते जिसमें वहाँ के लोग तब थे, तो हमें विदित होता कि ये शिक्षायें हमें थोड़ा ऊपर ले जा रही हैं। मनुष्य के बचपन ही में उसे उच्चतम शिक्षा देना बुद्धि के विरुद्ध है। हज़रत ईसा मसीह के उच्चतम आदर्श इस-रैल के अर्द्धवन्य जातियों को दिये गयेथे इसकी तो कल्पना कर लीजि। येपरन्तु यहां पर हम आपके अवधान को एक

विशेष बात पर आकर्षित करते हैं कि इन प्राचीन स्थूल शिक्षाओं के अधिकांश में भी आभ्यन्तरिक और गूढ़ शिक्षायें पाई जाती हैं जो उन लोगों के लिये हैं जो उस काल में भी उन्नत जीव हुये और होनेवाले थे—जिस से प्रगट होता है है कि वे गुरु उच्चशिक्षा से भी अभिज्ञ थे। यह आभ्यन्तरिक शिक्षा उन बाह्य उपदेशों में पाई जाती है जो सर्वसाधारण के लिये अभीष्ट थे। सर्वदा ऐसा ही होता रहा है। हज़रत ईसामसीह के उपदेश आज भी सर्व साधारण मनुष्यों की समझ में नहीं आते। गत कल्ह का तो पूछना ही क्या है। ईसाई धर्म के इतिहास पर दृष्टि डालिये और देखिये कि ईसा के इत्थंकथित अनुयायीगण कैसा बुरा उनके उपदेशों को समझे। देखिये उन लोगों की भावनायें उस काल में और अब भी कैसी जंगली और क्रूर हुई हैं। परन्तु तिस पर भी इन १९०० वर्षों की प्रत्येक पीढ़ी में उन्नत जीव ईसा के कथनों के अपूर्ण वर्णनों और ऐंठे पैंठे विवरणों में भी आभ्यन्तरिक शिक्षा का उपदेश पाते आये हैं। तिस पर भी ईसा की शिक्षाओं ने आश्चर्यजनक कार्य कर दिया है, यद्यपि उनके समझने के लिये अच्छी समझ की कमी रही। "सरमन आन दि माउन्ट" के सदाचार आज भी अभी प्रचलित नहीं हुए। अभीतक मानव जाति उतनी ऊँची उन्नति नहीं कर सकी परन्तु भविष्यत् की पीढ़ीयां उनके प्रकाश और पथ प्रदर्शन से लाभ उठावेंगी।

यहाँ पर हम आपके अवधान को एक तथ्य पर आकर्षित

करते हैं। सब पैग़म्बरों की शिक्षायें इस अभीष्ट से दी गई थीं कि मनुष्य मन की नीची भूमिकाओं के आवरणों को त्याग दें और वृद्धि की उच्चतर कक्षा के पथ को प्राप्त करें। उद्देश्य जीव का विकाश था और उसी अभिप्राय से सब रस्म-रिवाज बनाये गये थे। एक समय में एक ही सीढ़ी ऊपर चढ़ना नियम रहा है और अब भी है। उपदेशक का वचन अन्तिम वचन न था, किन्तु एक स्थान के लिये उपयुक्त था। जो बातें आपको पहले घबड़ा देने वाली थीं, उनकी यही कुंजी है। दूसरी स्मरण योग्य बात यह है कि सब शिक्षाओं का अभिप्राय मनुष्य को ऊपर उभाड़ना था, और सभी मनुष्योंके हित ही के लिये था। वे शिक्षायें इस लिये न थीं कि मनुष्य ईश्वर प्रति अपने कुछ कर्तव्यों का पालन करे, जैसा कि अब मानने के लिये समझाया जाता है। ईश्वर को इस बात की चिन्ता नहीं है कि मनुष्य उसकी ओर ध्यान नहीं देता। वह खुशामद पसन्द नहीं है और न लोगों से गंध धूप की पूजा ही चाहता है कि उसके घ्राण द्वारा उसे सुख प्राप्त हो। ऐसी भावनायें मानव जाति के बचपन से सम्बन्ध रखती हैं। मनुष्यकृत पूजा और स्तुति के बिना भी ईश्वर बड़े मजे में रहता है। ईश्वर भक्ति से मनुष्य ही का लाभ होता है—मनुष्य के कार्यों से परमात्मा में कोई क्षति या वृद्धि नहीं होती। यदि ऋषियों और पैग़म्बरों ने यह विधान किया है कि मनुष्य ईश्वर को पूजे, तो वह विधान इसी अभिप्राय से है कि मनुष्य का ध्यान इस बात पर जाय कि ऊपर एक महती शक्ति है। इस बात पर ध्यान जाने से मनुष्य अपने विकास में परमात्मा की ओर

आकृष्ट होता है। इस बातको आप अपने चित्त से हटा दीजिये कि ईश्वर को आपकी स्तुति और पूजा की इसलिये आवश्य-कता है कि आप उसके गुणों का समर्थन करें या उसकी उच्च-पदवी को सराहें। ईश्वर की प्रार्थना, स्तुति और पूजा का सारा लाभ मनुष्य ही को होता है—मामला केवल एकतरफा है।

सब मजहबों के पैगम्बरों की शिक्षा को समझने के लिये हमें चाहिये कि हम अपनेको उस पैगम्बर के स्थानमें कल्पना करें और देखें कि कैसे मनुष्यों से उसे काम पड़ा था। तब हम लोग समझेंगे कि वे शिक्षायें उन मनुष्यों को एक कदम ऊपर चढ़ाने के लिये थीं और उन्होंने चढ़ा ही दिया। परन्तु इस लिये कि उन शिक्षाओं का उद्देश्य ऊपर चढ़ाना था, जैसा कि हो भी गया, हमें यह उचित नहीं है कि हम अब भी उन्हीं शिक्षाओं के अक्षरों से बद्ध रहें। यदि हम उपदिष्ट मार्ग पर उन्नति करें तो हम इस योग्य हो जावेंगे कि उन शिक्षाओं की भुसी को ( जो गत काल में गेहूँ थी ) त्याग दें और वहाँ बिखरे हुये गेहूँ के दानों को ग्रहण कर लें जो अब भी उस यत्न में पाये जाते हैं। पुरानी शिक्षाओं की भली बातों को हमें व्यवहार में लाना चाहिये और भली बातें उनमें अब भी पाई जाती हैं—अभी तक वे लाभकारिता के बाहर नहीं छुट गई हैं। परन्तु हमें प्राचीन काल की फटी पुरानी और व्यक्त शिक्षाओं से बद्ध न होना चाहिये—सब शिक्षाओं के मूलभाव को छोड़ कर हमें पुराने नियमों के मरे हुए शब्दों से बद्ध न होना चाहिये। इसलिये कि यह शिक्षा कभी ईश्वरा-देश थी, सो अब भी सर्व काल और सब मनुष्यों के लिये

अविफल है इस भ्रम में न पड़ना चाहिये—हमें शेष अन्य दो धर्म के स्तम्भों 'प्रतिभा' और 'बुद्धि' को भी स्मरण करना चाहिये। परन्तु साथ ही हमें प्राचीन शिक्षाओं की निन्दा भी न करनी चाहिये और न उनके अस्तित्व को अस्वीकार करना चाहिये, केवल इसी लिये कि ये बहुत दिन पीछे के काल से सम्बन्ध रखनेवाली हैं। हमें बातों के तथ्य को पहचानना चाहिये और तदनुकूल अपना शासन करना चाहिये। यह भी न ख्याल करना चाहिये कि ईश्वरादेश और देववाणी के दिन बीत गये। इमर्सन साहब में भी उतनी ही देववाणी हुई है जितनी यहूदी पैगम्बरों में हुई थी—प्रत्येक अपने जमाने की अपेक्षा आगे बढ़ा हुआ था और प्रत्येक के सन्देश को लोगों ने पूरा नहीं समझा—प्रत्येक ने उच्चतर राग अलापा। हमने इमर्सन साहब का नाम केवल उदाहरण के लिये उल्लिखित किया है—हमारे इस काल में ऐसे बहुत से हैं। परन्तु प्राचीनकाल के पैगम्बर और अब के द्रष्टा और आचार्य में यह अन्तर है कि पुराने आचार्यों के ऐसे अनुयायी होते थे जो अन्धविश्वास में भी शिक्षा को स्वीकार करने के लिये विवश किये जाते थे और आध्यात्मिक दृष्टि के धुँधले प्रकाश को पाते थे और अब के मनुष्य तो शिक्षाओं के महत्व की परीक्षा अपने अन्तःकरण के प्रकाश में अपनी बुद्धि की सहायता से कर सकते हैं—अर्थात् आज कल के मनुष्यों में से कुछ तो ऐसा कर सकते हैं; शेष को प्राचीन शिक्षाओं ही पर सन्तोष करना होगा। क्योंकि वे विकाश में अभी प्राचीन ही काल के जीव हैं और अपने भाइयों के साथ उन्नति पथ पर गति न कर सके इस लिये उन्हें आध्या-

त्मिक बचपन की कहानियां ही पर सन्तोष करना होगा और यह भी भली बात है।

योगशास्त्र प्रतिभा या अन्त:करणवाली युक्ति को भी धर्म संगठन का दूसरा स्तम्भ स्वीकार करता है। जैसा कि हम इस विशेष युक्ति के विचार में पहले कह आये हैं। बहुत से ऐसे मनुष्य जिन्होंने सदाचार के विषय में अपना विचार लगाया है, अनेक कठिनाइयों के कारण ईश्वरादेश की युक्तिसे दूर हटते हैं और इन इत्थंकथित ईश्वरादेशों को प्रमाण, अमोघ और अन्तिम न मानकर, जो प्राचीन काल में आदिम मनुष्यों को दिये गये थे, ईश्वरादेश ही को अस्वीकार करते हैं और किसी दूसरी ही युक्ति की तलाश में कोशिश करते हैं। ऐसे मनुष्यों में से बहुत तो उपयोगितावाली युक्ति को स्वीकार करते हैं क्योंकि यही युक्ति उनकी बुद्धि के अनुकूल पड़ती है, यद्यपि यह युक्ति भी उनके जीव की आवश्यकताओं को उतना नहीं पूरा करती जितना इच्छा की जा सकती है। अन्य लोग इस अन्तिम युक्ति की कठोरता और स्वार्थपरता से हट कर और फिर भी पुरानी ईश्वरादेश वाली युक्ति पर लौट जाने की इच्छा न रखकर प्रतिभा या अन्त:करण की युक्ति को गृहण करते हैं और इस भावना को स्वीकार करते हैं कि प्रतिभा या अन्तःकरण ही सदाचार का अकेला निर्णता है और यह विश्वास करते हैं कि मनुष्यों के कानून इसी पर निर्भर हैं। कुछ तो और भी आगे जाते हैं और कहते हैं कि प्रतिभा या अन्त:करण की वाणी ईश्वर की वाणी है जो मनुष्य प्रति होरही है और उसका सर्वथा पालन ही करना

चाहिये—परमेश्वर प्रत्येक मनुष्य पर अपना आदेश प्रगट करता है। जैसा कि हम पहले कह आये हैं इस कथन का कड़ा प्रतिवाद इस आधार पर हुआ है कि कोई भी दो मनुष्यों के अन्त:करण एकसम नहीं होते; और अन्त:करण तो संगति, वय:क्रम, जाति, सर्वसम्मति, शिक्षा आदि पर अवलम्बित रहता है। इसलिये यह अचूक पथप्रदर्शक और अनुसरण योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के लिये उसी अन्त:करण का कानून होगा जिससे दूसरे से सम्बन्ध ही न रहेगा। धर्म इन दोनों प्रगट विरोधी युक्तियों को परस्पर मिलाता है। देखिये कि यह प्रतिभा या अन्त:करण के विषय में क्या कहता है।

प्रत्येक मनुष्य थोड़ी बहुत भीतरी वाणी की चेतना रखता है—एक ऐसा ज्ञान जो बुद्धि से स्वतंत्र है। यह वाणी मनुष्य से या तो आज्ञासूचक या प्रेरणासूचक भाव से बोलती है—या तो किसी कार्य के करने की या उसे न करने की आज्ञा देती है। कभी २ यह मनुष्य को उच्च कार्य करने के लिये उत्साहित करती है और कभी २ कुछ अयोग्य काम करने के लिये बहकाती हुई प्रतीत होती है। इसके उच्च पटल में हम इसे अन्त:करण कहते हैं। इसके नीच पटल में हम इसे बहकावट ( या प्रलोभन ) कहते हैं। पुरानी कहावत का तो यह विश्वास था कि मनुष्य के एक ओर एक अच्छा फरिश्ता है और दूसरी ओर बुरा फरिश्ता है। पहला उसके कान में भला काम करने को कहता है, और दूसरा बुरे काम के करने की प्रेरणा करता है। ये पुरानी कहावतें तथ्य को रूपका-

लंकार में कहती हैं जैसा कि हम लोग इस विषय के विचार में आगे चल कर पावेंगे।

अन्तःकरण की वाणी और प्रलोभन के अतिरिक्त हम एक ऐसी बात को पाते हैं जो साधारण कार्यों के विषय में बिना किसी भले या बुरे के विवेक के हमें प्रेरणा करती है। इस तीसरे अभिव्यंजन को हम प्रतिभा कहते हैं। बहुत से मनुष्य इन तीनों शब्दों को व्यवहार करते हैं, और तीनों अभिव्यक्तियों के अन्तर को समझते हैं, परन्तु इस बात को समझा नहीं सकते कि प्रेरणायें क्या हैं और कहाँ से आती हैं। योग-शास्त्र इस विषय को समझा देता है और इसी समझौता पर धर्म अंशतः अवलम्बित है। क्योंकि यह कुछ तो अन्तःकरण या प्रतिभा के स्तम्भ पर अवलम्बित है जो दूसरा स्तम्भ है, पहला स्तम्भ ईश्वरादेश और तीसरा उपयोगिता है। ये तीनों स्तम्भ क्रमशः ईश्वरादेश, मनुष्य की प्रतिभा शक्ति और उसकी बुद्धि की वाणी का द्योतन करती हैं। अब देखना चाहिये कि इस प्रतिभा के प्रश्न पर योगशास्त्र क्या बतलाता है कि किस प्रकार के सन्देश जीव के इस अङ्ग से आते हैं।

अन्तःकरण, प्रतिभा, प्रलोभन और अन्य भावनायें जो चेतना क्षेत्र में मन की अचेतन भूमिकाओं से आते हैं, इनके विषय में हमने अन्य ग्रन्थों में विस्तार से लिखा है।

प्रलोभन अर्थात् बुरे काम के करने की प्रेरणा मन के निचले पटलों से आती है—प्रवृत्ति मानस के उस अंश से आती है जिसका सम्बन्ध पाशविक वृत्तियों, रुझानों और भावनाओं आदि से है। ये वृत्तियाँ, रुझानों और भावनाओं

आदि हमारी पूर्वार्जित सम्पत्तियां हैं। वे अपने आप बुरी नहीं हैं, उनमें केवल इतनी ही बुराई है कि वे हमारे जीव के इतिहास के उस भाग से सम्बन्ध रखती हैं, जिसे हम पीछे छोड़ आये हैं या जिसमें से हम अब निकल रहे हैं। ये बातें हमारे विकास के किसी समय में हमारी मानसिक भावना के लिये यथासाध्य उच्चतम बातें रही होंगी। हमारी उस समय की भलाई के लिये प्रयोजनीय रही होंगी। हमारी अन्य भावनाओं और क्रियाओं की दशा से जिसे हम पार कर आये थे, बहुत बेहतर रही होंगी, और इसलिये उस काल में उच्च आपे की वाणी नीच चेतना पर आती हुई प्रतीत होती रही होगी। आपको स्मरण रखना चाहिये कि ये सब बातें सापेक्ष हैं। परन्तु जिस कक्षा में ये बातें सर्वोच्च भली थीं उस कक्षा को उत्तीर्ण करके हम उसके परे आ गये हैं, और अब इतना अधिक विकस गये हैं कि अब तथ्य और उच्चतर भावनाओं का लाभ उठा सकते हैं, इसलिये वे बातें अब बुरी प्रतीत होती हैं, और जब कभी ये मन की नीच भूमिकाओं से उठ कर हमारी चेतना में आती हैं तब हम इनके ख्याल से काँप उठते हैं कि अबतक भी हममें इतनी पशुता है। परन्तु ऐसा प्रतीत करने का कोई भी प्रयोजन नहीं है कि हममें ये ख्यालात और प्रेरणायें उदय होती हैं, इसलिये हम बुरे हैं। ये हमारी पूर्वार्जित सम्पत्तियाँ हैं और हमारे विकास की पाशविक श्रेणी की स्मृतियां हैं। वे गत काल की बाणी हैं। यदि आप यह प्रतीत करें कि आपके भीतर कोई पाशविक वृत्ति छुट्टी पाने के लिये जोर मार रही है तब उद्विग्न न हूजिये।

केवल यही बात कि आप उस वृत्ति को अपने आपे से भिन्न कोई बात देख रहे हैं, बहुत उत्साहजनक है। पहले आप बिलकुल पशु थे। अब आप उस पशुता को अपना एक अंश मात्र पाते हैं। आगे चलकर थोड़े दिनों में आप पशुता की उस शेषमात्र दशा को भी निकाल बहावेंगे। इसी पाठ में आगे चलकर हम भलाई बुराई की सापेक्ष प्रकृति का विषय उठावेंगे, जिससे आप देख सकेंगे कि कोई बात जो एक समय में भली थी अब बुरी हो सकती है। आज जो बात बहुत अच्छी और उचित जान पड़ती है, विकास पथ में आगे चलकर वही बात बुरी और अनुचित प्रतीत होने लगेगी। यह हम सापेक्ष बातें कर रहे हैं, क्योंकि जब हम विकसते हैं तो हम देखने लगते हैं कि उचित अनुचित और भला बुरा ये सापेक्ष भावनाएं हैं, और निरपेक्ष परा दशा की दृष्टि से कोई बात ही बुरी नहीं है। परन्तु तिसपर भी ज्यों ज्यों हम प्रगति करते हैं त्यों त्यों वे चीजें जिनके हम पार आ जाते हैं बुरी हो जाती हैं और जिनमें हम प्रवेश कर रहे हैं वे तबतक अच्छी जान पड़ती हैं जबतक हम उन्हें भी नहीं पार कर जाते। हम केवल यहाँ पर इतना ही किया चाहते हैं कि आपको बतला दें कि यह प्रलोभन किसी गत अनुभव की प्रेरणा है कि फिर उसकी पुनरावृत्ति की जाय। क्योंकि रुझान अभी बिलकुल मरा नहीं है। वह अपना सिर उठा रहा है, क्योंकि बुझता हुआ दीपक निर्वाण के पहले भभकता है या क्योंकि यह मरती हुई बात किसी बाहरी सूचना या अवस्था के द्वारा उठा दी गई है। इन पाशविक वृत्तियों को मरने दीजिये और इनके हाथ पाव फेंकने से भयभीत न हूजिये।

प्रतिभा या तो आध्यात्मिक मन की प्रेरणाओं से चेतना के क्षेत्र में स्फुरण करती है, या बुद्धि की अचेतन भूमिका से आती है। पिछली दशा में बुद्धि किसी प्रश्न पर विना चेतना क्षेत्र में लाये विचार कर रही थी—अर्थात् अचेतन मन कार्य कर रहा था—और जब प्रश्न हल हो गया तो ठीक आवश्यक समय पर वह चेतना में ऐसे प्रमाण के साहित प्रगट हो गया कि उसे स्वीकार ही करते बना। परन्तु बहुत सी प्रतिभाएं आध्यात्मिक मन से आती हैं, जिनका मन विचार नहीं करता किन्तु साक्षात् जानता है। आध्यात्मिक मन सर्वदा हमें हमारे ग्रहण योग्य सर्वोत्तम बात हमारे विकाश की श्रेणी के अनुकूल देता है। वह हमारी असली भलाई के लिये सर्वदा उत्सुक रहता है, और यदि हम उसे अवकाश दें तो वह हमारी सहायता और हमारे पथ प्रदर्शन के लिये उद्यत रहता है। हम इस विषय के सूक्ष्म विचार में इस समय नहीं प्रवेश कर सकते। यहां पर केवल इसलिये दिग्दर्शन मात्र कर दिया गया है कि प्रतिभा और अन्त:करण के भेद की भिन्न २ छायाएं दिखला दी जायें। हमारे मन में अन्त:करण भले और बुरे के प्रश्न से सम्बन्ध रखता है, परन्तु प्रतिभा हमारे जीवन के उचित कार्यों के प्रश्न से बिना सदाचार के ध्यान के सम्बन्ध रखती है। यद्यपि उन बातों के विषय में वह हमारे सर्वोत्तम ज्ञान के विपरीत नहीं होता तथापि अन्त:करण हमें यह बतलाता है कि हमारी वर्तमान विकासावस्था में अमुक बात सर्वोच्च सदाचारिक मर्यादा के अनुकूल है वा नहीं। प्रतिभा यह बतलाती है कि अमुक क्रिया या पथ हमारी सर्वोत्तम भलाई के लिये

अच्छा है या नहीं। क्या अब आप फरक पहचान गये ?

आध्यात्मिक मन का वह प्रकाश जो हमारे जीव को आच्छादित करनेवाले आवरणों में से होकर आता है अन्तःकरण कहा जाता है। यह भद्दी परिभाषा है। इसे स्पष्टतर करने का यत्न हम लोगों को करना चाहिये। आध्यात्मिक मन का प्रकाश लगातार मानसिक निचली भूमिकाओं में पहुँचने का यत्न करता है और उसका कुछ प्रकाश अत्यन्त निचली भूमिका तक पहुँच भी जाता है, पर वह प्रकाश बहुत ही धुँधला दिखाई देता है, कारण यह है कि नीच प्रकृति के अच्छादनकारी आवरण प्रकाश को आने से रोकते हैं। ज्यों ज्यों एक के बाद दूसरा आवरण त्यक्त होता जाता है त्यों त्यों प्रकाश साफ दिखलाई पड़ता है। इस कारण से नहीं कि प्रकाश जीव की ओर जाता है, किन्तु इस कारण से कि चेतना का केन्द्र आत्मा की ओर उठता जाता है। यह उस पुष्प की भांति होता है जो अपने बाहरी दलों को त्यक्त करके ज्यों २ वे विकसते जाते हैं त्यों २ उन्हें भूमि पर गिराता जाता है। कल्पना कीजिये कि पुष्प के केन्द्र में ऐसी कोई वस्तु है, जिसमें प्रकाश है, और वह प्रकाश दलों की बाहरी पंक्ति तक और उसके बाहर भी पहुँचना चाहता है। ज्यों २ एक के बाद दूसरी तह या दल झड़ते जाते हैं त्यों २ शेष दलों पर अधिक २ प्रकाश होता जाता है और अन्त में सब प्रकाश ही प्रकाश हो जाता है। यह बलात् अलंकारिक भाषा है, परन्तु हम ऐसी भाषा का व्यवहार करने के लिये विवश हैं। अब दूसरा वर्णन लीजिये, जो इसी प्रकार भद्दा तो अवश्य है परन्तु आपको कुछ अधिक स्पष्ट

प्रतीत हो सकता है। एक छोटे से परन्तु अत्यन्त तेज बिजली के प्रकाश की कल्पना कीजिये जो कपड़ों के अनेक तहों से आवृत है। अब प्रकाश तो आत्मा है; कांच का बुल्ला आध्यात्मिक मन है जिसमें से होकर आत्मा की ज्योति न्यूनातिन्यून अवरोध के साथ चमक रही है। कपड़े के बाहरी आवरण बहुत मोटे हैं परन्तु प्रत्येक भीतरी आवरण अपने बाहरी आवरण की अपेक्षा पतला होता गया है। जो आवरण प्रकाश के निकट-तम है वह बहुत ही सूक्ष्म और मिहीन (बारीक) होते जाते हैं जबतक कि अत्यन्त पारदर्शक नहीं हो जाते। इसी उदा-हरण को अपने मन में धारण करने का यत्न कीजिये। अब कपड़े के बाहरी आवरण पर बहुत ही कम प्रकाश पड़ता है; परन्तु जो कुछ भी प्रकाश पड़ता है वह उस आवरण की भावना और योग्यता के अनुसार सर्वोत्तम है। हम कपड़े के पहले आवरण को हटा देते हैं। अब दूसरा आवरण पहले की अपेक्षा अधिक प्रकाश का ग्रहण और वितरण करता है। इस दूसरे आवरण को भी हम हटाते हैं और हमें तीसरा और भी चमकीला मिलता है जो बहुत ही अधिक प्रकाश फैलाता है। इसी प्रकार प्रत्येक आवरण के हटाने से अधिक २ और तीव्रतर प्रकाशित आवरण मिलता जाता है। अन्त में सब आव-रण हट जाते हैं और आत्मा का प्रकाश आध्यात्मिक मन के काँच से बहुत प्रबल ज्योति के साथ चमकने लगता है। यदि कपड़े के आवरणों को सोचने की योग्यता होती तो वे कपड़े की सब तहों को (केन्द्रगत दीपक के सहित) "अहम" सम-झते। और प्रत्येक आवरण देखता कि भीतर की ओर साधा-

रण आपे की अपेक्षा कोई अधिक चमकीली वस्तु है, और यही वस्तु बाहरी कपड़े के लिये उस अवस्था में सर्वश्रेष्ठ ज्योतिर्मय वस्तु अर्थात् उसका अन्तःकरण है । वस्त्र का प्रत्येक आवरण इस बात से अभिज्ञ होता कि उससे भीतर वाला आवरण उसकी अपेक्षा अधिक चमकीला है। पहले आवरण को दूसरा आवरण बहुत "अच्छा" प्रतीत होता, परन्तु चौथे या पांचवें को तो दूसरा अन्धकारमय और इसलिये बुरा ही प्रतीत होता। परन्तु तिस पर भी प्रत्येक आवरण अच्छा ही होगा क्योंकि वह अपने से बाहरवाले आवरण पर प्रकाश डालता है । अन्तःकरण आत्मा का प्रकाश है परन्तु हम उसे आच्छादनकारी आवरणों के कारण बहुत धुँधला देखते हैं। हम केवल उतना ही देख पाते हैं जितना कपड़ों की तहों को भेद कर बाहर आता है, और इसीलिये हम भीतरी आवरण को अन्तःकरण कहते हैं, जैसा कि वह अपेक्षतः वास्तव में है भी। क्या अब आप इस विषय को कुछ और भी स्पष्टतर समझे ? क्या अब आप देख सकते हैं कि क्यों भिन्न २ मनुष्यों के भिन्न २ अन्तःकरण हुआ करते हैं ? क्या कपड़े के भिन्न २ आवरणों में प्रकाश की भिन्न २ शक्ति होने से आप प्रकाश ही की चमक और विश्वसनीयता पर शंका कर सकते हैं ? इस स्थूल उदाहरण पर थोड़ा विचार कीजिये और तब देखिये कि आप का मन अन्तःकरण की महिमा को साफ समझता है कि नहीं।

अन्तःकरण या उसकी वाणी को इसलिये तुच्छ न समझिये कि नीच और अविकसित मनुष्य का अन्तःकरण

उस मनुष्य को ऐसे कार्यों के करने का अवकाश देता है जिसे आप बुरा समझते हैं। जब उससे भी निचले आवरण से देखियेगा तो वही बुरा भला प्रतीत होने लगेगा। इस कारण से कि आपका अन्तःकरण आपको सदाचार की उच्च संहिता दे रहा है, आप अपने को धर्ममूर्ति ही मत समझ लीजिये—आज भी ऐसी २ सत्तायें देह धारण किये हुए हैं जो आप की सदाचार संहिता को उस दृष्टि से देखती हैं जिस दृष्टि से आप 'बुशमेन' की संहिता को देखते हैं। क्या आपको इस में सन्देह है? अच्छा एक उदाहरण लीजिये। आप अपने को ईमानदार और सच्चा कहते हैं। क्या आप सचाई के साथ कह सकते हैं कि आप कभी भी एक महीना तक बिना झूठ बोले रह सके हैं? छोटे २ झूठ, सफेद झूठ, पूरी सचाई को बहला ले जाना ये भी वैसे ही झूठ हैं जैसे बड़े २ झूठ हुआ करते हैं। क्या आप पूर्ण महीने भर नितान्त सच्चे और ईमानदार रहे हैं? व्यापार के झूठ, व्यापारिक आवश्यकताएं, व्यवसाय की वार्ता, शिष्टाचार आदि इस विषय में सब आप के विरुद्ध जायेंगे। हम आप को निन्दित और घृणित नहीं समझते—सच तो यह है कि मानव जाति की वर्तमान विकासावस्था में आपको इससे और भी बेहतर होने का हम कोई दूसरा तरीका देखते ही नहीं। आप अपने को यथासाध्य सर्वोत्तम ही बना रहे हैं। आप जो इस बात को समझ रहे हैं कि आप नितान्त ईमानदार और सच्चे नहीं हैं, यही बड़ी भारी उन्नति है। और यह परीक्षा तो एक तुच्छ परीक्षा है। जब आप और ऊंचे चढ़कर देखेंगे तो पावेंगे कि मनुष्य जाति

और भी भारी २ अपराध कर रही है। क्या कोई कोई मनुष्य संसार में अपनी त्रुटियों के कारण दुःख उठा रहे हैं ? क्या आप का कोई भाई उन लाभों में से किसीसे वंचित है जो अन्य मनुष्यों को प्राप्त हुए हैं ? क्या सब बातें वैसी अच्छी होगई हैं जैसी उन्हें होना चाहिये ? क्या वर्तमान अवस्था में आप कोई उन्नति नहीं सोच सकते ? हां मैं जानता हूँ कि आप अकेले सब बातों को ठीक नहीं कर सकते, परन्तु आप मनुष्य जाति के एक अंश हैं और आप मनुष्य जाति को प्राप्त सामग्रियों को भोग रहे हैं। आप उस गाड़ी पर के आरोही यात्री हैं जो वर्तमान अवस्था के पीड़ित जनों की छाती पर होकर चल रही है। परन्तु जैसा आप कहते हैं कि अकेले आप इन्हें नहीं रोक सकते, सारी जाति को उन्नति करनी होगी और सारी जाति को इस दलदल से निकलना पड़ेगा। इस सब से जो पीड़ा होगी वही उद्धार करने वाली होगी। अब मनुष्य जाति उस पीड़ा का अनुभव कर रही है और बहुत परेशान हो रही है। आपको केवल इतना ही करना होगा कि आप उसको देखते रहें और जब परिवर्तन आवे तो उसके लिये उत्सुक रहें। परमेश्वर के हाथ में धागे की लुंडी का बाहरी छुटा हुआ छोर है और वह सर्वदा उस लुंडी को खोल रहा है। आपको श्रद्धा रखनी होगी और खुलने के लिये उत्सुक रहना होगा चाहे इसका जो कुछ परिणाम आप पर पड़े, क्योंकि देखते और उत्सुक रहने से आप उस बहुत सी पीड़ा से बच जायेंगे जो उन लोगों के सिर आवेगी जो न देखेंगे और जो उत्सुक न रहेंगे। परन्तु यह पीड़ा भी अच्छी होगी, क्योंकि

यह विकास का एक अंग है। अच्छा अब अपने विषय पर लौट आइये। क्या अब आप अपने को अधिक ऊँचा और भला समझते हैं ? बहुत अच्छा ! शिक्षा यह है कि किसीको घृणित मत समझिये। वह मनुष्य दूसरे पापियों पर पत्थर मारे जो आप पाप से मुक्त हो। हमलोगों में से कोई बहुत अच्छा नहीं है। परन्तु सभी ऊपर जानेवाले पथ पर हैं।

मित्रो, आइये हम सब लोग तत्काल का जीवन जियें, यथासाध्य सर्वोत्तम काम करें। यहाँ वचन और वहाँ कीर्ति का बीज बोवें। अपने को धर्ममूर्ति न समझें। दूसरे को घृणित न समझें। यथासाध्य सर्वोत्तम कार्य करें और दूसरों को कार्य करने का अवकाश दें। अपने ही कर्तव्य पर ध्यान दें। दूसरों को पीड़ा न दें। प्रेम, क्षमा और दया से भरपूर रहें। सबको सबका अंग समझें। देखें कि हममें से प्रत्येक जन यथासाध्य सर्वोत्तम कार्य अपनी विकासावस्था के अनुकूल करे। हम सब लोग तुच्छातितुच्छ, नीचातिनीच और मूर्खातिमूर्ख में भी ईश्वर को देखें। वह वहाँ ही है, वहाँ ही है और विकास के लिये उभड़ रहा है। अन्त में आइये दयावान बनें, दयावान बनें।

यह काँच के उस बबूले के भीतर विद्युत्प्रकाश की उपमा है जो कपड़े के आवरण के ऊपर एक आवरण से आच्छादित है। इसे स्मरण रखिये और धारण कीजिये। इसे अपना एक अंग बना लीजिये और शान्ति आप ही की होगी।

ऊपर के उदाहरण पर विचार करने से विदित होगा कि अन्तःकरण आत्मा की वह वाणी है जो मानव प्रकृति के नीचे

तत्त्वों की आवरणकारी दीवारों में से होकर आती है। अथवा यदि इसी बात को दूसरे रूप में कहा जाय तो अन्तःकरण मनुष्य के गत अनुभव, वृद्धि और विकास का योगफल आत्मा के उस प्रकाश से मिला हुआ है जिसको वह यथासाध्य ग्रहण कर सकता है। मनुष्य ने अपने विकास में गत अनुभवों से लाभ उठाया है—नये आदर्श बनाये हैं—बढ़ते हुए जीव की कतिपय आवश्यकताओं को पहँचाना है। अपने भीतर उन नई प्रेरणाओं का अनुभव किया है जो उसे ऊपर की बातों की ओर ले जाती हैं—अपने सम्बन्ध को अन्य मनुष्यों और सब के साथ पहँचान लिया है। यह सब बातें जीव की वृद्धि के साथ साथ सम्पादित हुई हैं। मनुष्य की वृद्धि के प्रत्येक सोपान में उचित की उच्च और उच्च भावना प्राप्त होती गई है—उच्च और उच्च आदर्श खड़ा होता गया है। उच्चतम आदर्श को वह उचित कहता है, चाहे उस आदर्श के अनुकूल पूरा आचरण न कर सके। आत्मा का प्रकाश उसकी योग्यता के अनुसार उच्चतम आदर्श को प्रकाशित कर देता है और उसे जीव के सम्मुख इस प्रकार खड़ा कर देता है जिससे विदित हो जाय कि यही आदर्श-शिखर हमारा उद्देश्य है—इसीकी ओर हमें चढ़ना है। इस प्रकार प्रकाशित हुआ यह उच्चतम शिखर हमारी यात्रा का अभीष्ट है। वह हमारी दृष्टि में उस समय उच्चतम वस्तु है। यह बात सत्य है कि मनुष्य ज्यों २ ऊपर चढ़ता जाता है त्यों २ प्रकाश और भी ऊपर चढ़ता जाता है और उससे भी ऊँचे २ उन शिखरों को दिखलाता है जिनके अस्तित्व का मनुष्य को ख्याल भी न था। जब वह उस शिखर

पर पहुँचता है जो इस समय सब से ऊँचा प्रतीत होता है तब उसे जान पड़ता है कि अभी तक तो हम निचली ही पहाड़ी के शिखर तक पहुँचे हैं। आगे ऊपर चल कर असली पहाड़ के ऊँचे और अधिक ऊँचे शिखर खड़े हैं और सबसे ऊँचा शिखर आत्मा के सूर्य द्वारा अत्यन्त प्रकाशमान हो रहा है। दूसरी भी चैतन्य सत्तायें हैं जिनका कर्तव्य हमसे अदृश्य रूप में उँचाइयों पर चढ़ना है। उन मनुष्यों का उद्देश्य जो हम से बहुत ही ज़ियादा पिछड़े हुए हैं और जो उद्देश्य उन लोगों को सब से ऊँचा प्रतीत हो रहा है हमसे बहुत नीचे छुट गया है, क्योंकि हम पहले ही बहुत ऊँचे आ गये हैं। इसलिये इन बातों को हमें अवश्य समझ लेना चाहिये, तभी हम अन्यों की क्रियाओं, उनके आदर्शों और अन्तःकरण की स्पष्ट भावना कर सकेंगे। हमें घृणा करना छोड़ देना चाहिये। हमारा दूसरों के प्रति कर्तव्य उन पर इस बात के लिये घृणा करना नहीं है कि वे उस उँचाई तक नहीं चढ़ पाये हैं, जहाँतक हम पहुँचे हुए हैं, किन्तु उनको आशा और आनन्द का सन्देश भेजना और उन्हें रास्ता बतला कर सहायता देना है। यही बात हमारे बड़े भाई लोग हमारे साथ कर रहे हैं। यही बात हमें भी उन लोगों के साथ करना चाहिये जो मार्ग में हमसे पीछे पड़े हुए हैं।

अन्त में हम आपके ध्यान को इस बात की ओर आकर्षित करते हैं कि अन्तःकरण केवल एक स्तम्भ है जो धार्मिक संगठन को धारण कर रहा है। यह प्रधान स्तम्भ है पर अकेला ही नहीं है। इस पर पूरा गम्भीर विचार करना चाहिये

पर यह अचूक पथप्रदर्शक नहीं है। यह हमारे लिये यथा-साध्य उच्चतम दिखलाता है, परन्तु वह हमारा देखा हुआ स्थान ही दरअसल उच्चतम नहीं है, और न उसीसे हमें सन्तुष्ट हो जाना चाहिये वरन् जो अन्तःकरण से भी परे है वही अचूक और परम है, और अन्तःकरण तो सापेक्ष और चूकनेवाला है, क्योंकि हमारी वृद्धि और हमारे विकाश में अभी कमी है, क्योंकि अभी ऐसे बहुत से आवरण हैं जो आत्मा के प्रकाश को हमारे जीव पर पूरा नहीं पड़ने देते। परन्तु तिसपर भी हमें उसी प्रकाश की ओर दृष्टि रखना चाहिये और उसीका अनुसरण करना चाहिये। आइये हम लोग बचपन के परिचित शब्दों में प्रार्थना करें कि:—

"हे दयावती ज्योति, इस चहुँओर व्यापी अन्धकार में तू हमें आगे लिवा ले चल।

रात अन्धेरी है, और मैं घर से बहुत दूर पड़ गया हूँ; तू मुझे आगे लिवा ले चल।

तू हमारे कदमों के पास बनी रह, मैं दूर के दृश्यों को देखने की प्रार्थना नहीं करता; एक कदम मेरे लिये काफी है।

मुझे आगे लिवा ले चल।

धर्म का तीसरा स्तम्भ उपयोगिता की युक्ति है, जिसके विषय में हम पीछे कह आये हैं। धर्म उपयोगिता के स्तम्भ होने की महिमा को जानता है और साथ ही इसके धर्म के एकमात्र अवलम्बन होने की त्रुटियों को भी जानता है। मनुष्य का कानून जैसा कि पास हुआ करता है, इसी उपयोगिता के आधार पर प्रायः पूर्णतया अवलम्बित है। यद्यपि कोई २

लेखक इसे ऐसा दिखाने का यत्न करते हैं कि यह ईश्वरीय आज्ञा पर स्थित है। कानून मनुष्यों के उन उद्योगों का परिणाम है जिन्हें वे इस अभिप्राय से करते हैं कि मनुष्य जाति की तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुकूल सदाचार की संहिता बनाई जाय। मनुष्य का कानून भी विकास का विषय है। यह प्रारम्भ ही से बढ़ता, बदलता और विकसता आया है और सर्वदा ऐसा ही करता रहेगा, क्योंकि यह अचूक और चरम नहीं है। जैसे मनुष्य की वृद्धि के आगे २ उसका अन्तःकरण रहता है वैसे ही मानव कानून थोड़ा पीछे रहता है। अन्तःकरण एक पग आगे दिखलाता है और कानून किसी आवश्यकता के अनुकूल बनाये जाते हैं और तबतक कानून-रूप पर निश्चित नहीं किये जाते जबतक उनकी आवश्यकता स्पष्टरूप से न विदित हो। साधारणतः ये कानून आवश्यकता के बीत जाने पर भी कुछ दिन तक (प्रायः बहुत दिनों तक) प्रचलित रक्खे जाते हैं। मानव कानून मनुष्यों की साधारण बुद्धिमत्ता के परिणाम हैं और उन पर उस काल के मनुष्यों के अन्तःकरण का भी प्रभाव रहता है। बुद्धि देखती है कि अब किसी प्रकार की आवश्यकता आन पड़ी है, इसलिये प्रचलित या भावी बुराई को दुरुस्त करने के लिये कानून बनाती है। मानव जाति का अन्तःकरण दिखला सकता है कि अमुक प्रचलित कानून अन्यायमय, बुद्धि के विपरीत और भाररूप है और जब यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती है तब उस कानून के मंसूख, परिवर्तन और संशोधन करने का यत्न किया जाता है, जिससे अब वह वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल हो

जाय। कभी २ चालाक और स्वार्थी मनुष्यों द्वारा भ्रष्ट कानून भी उपस्थित किये जाते हैं और अधार्मिक कानून रचयिता लोग इसमें सहायता देते हैं। अधार्मिक न्यायाधीश अकसर इन कानूनों का बुरा अर्थ करते हैं। इन कानूनों के रचन, व्याख्यान और संचालन में बहुधा गलतियाँ हो जाया करती हैं। यह सब इसी कारण होता है कि मानव कानून चूकनेवाला है और परम नहीं है। पर साधारण दृष्टि से देखिये तो मनुष्यों के कानून निर्माण, व्याख्यान और संचालन में उस जाति के साधारण उच्चभाव का द्योतन करते हैं। जब उस जाति के अधिकांश मनुष्य उस कानून के पार उन्नति कर जाते हैं तब उस कानून को त्याग देते हैं। जब अधिकांश मनुष्य नया कानून चाहते हैं तब देर या सबेर वह कानून बन ही जाता है। संशोधन कानूनों में बड़ी मंद गति करते हैं; परन्तु अन्त में वे आते अवश्य हैं। और वे जाति की वर्तमान बुद्धि के बहुत पीछे नहीं होते। इसमें सन्देह नहीं कि जाति के वे मनुष्य, जो अन्यों की अपेक्षा अधिक उन्नति कर गये हैं, मानव कानून को अपनी उच्च दृष्टि से बहुत दूषित और अन्यायी देखते हैं और वैसे ही लोग सर्वसाधारण में भी अभी बहुत पिछड़े हुए हैं, वे भी उसे वैसा ही पाते हैं, पर ये भिन्न ही कारण से उसे वैसा पाते हैं। उच्च विकसित लोग तो वर्तमान कानून को इसलिये दूषित देखते हैं कि वह उनके इन्साफ़ और जरूरियात से पिछड़ा हुआ है, और अविकसित लोग उसको इसलिये अपूर्ण समझते हैं कि वह सदाचार सम्बन्धी उनकी भावना से बहुत ऊंचे बढ़ा हुआ है। परन्तु

सब मिला जुलाकर किसी जनता के क़ानून उसकी अधिकांश आवश्यकता और भावनाओं और चातुरी का द्योतन करते हैं। जब साधारण जनता उन्नति करती है तब कानून भी उसके अनुकूल होने के लिये परिवर्तित किये जाते हैं, अर्थात् मनुष्य जाति उस कानून की त्रुटियों को देखती है और उसे बदल देती है। कतिपय विचारशीलों ने सोचा है कि आदर्श अवस्था तो तब होती है जब एक राजतन्त्रशासन होता है और देवतुल्य कोई महापुरुष सिंहासनारूढ़ होता है। दूसरे लोग ऐसी मनुष्य जाति की कल्पना करते हैं जो बुद्धि और अध्यात्म में इतनी बढ़ी चढ़ी होती है कि मानव क़ानून अपमान समझ कर दूर फेंक दिये जाते हैं, क्योंकि ऐसे मनुष्यों को कानून की आवश्यकता ही न पड़ती, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने आपे ही में कानून होता है और आदर्श व्यक्तियों के होने से आदर्श न्याय का शासन रहता है। ये दोनों उपर्युक्त अवस्थाएें या तो शासक या नहीं तो शासित में " पूर्णता " की भावना करती हैं। देश के कानून तो उस देश की साधारण जनता की इच्छा और आज्ञा से बनतें हैं। यह बात राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों शासन प्रणालियों में सत्य है, क्योंकि प्रजा की वास्तविक आकांक्षा अपनी सुनवाई देर या सबेर करा ही लेती है। किसी जनता के कन्धे पर बलपूर्वक जुआ नहीं रक्खा जाता जबतक कि वह जनता उस जुआ के रक्खे जाने के लिये अपने आप गर्दन न झुका दे। ज्योंही वह जनता जुआ के पार उन्नति कर जाती है त्योंही वह जुआ फेंक दिया जाता है। हम साधारण जनता की बात कह रहे हैं न कि

विशेष व्यक्तियों की, इस बात को स्मरण रखना चाहिये । इस तरह से आप देखते हैं कि किसी देश का कानून उस देश के सर्वसाधारण लोगों की आवश्यकताओं का द्योतन करता है, और वह उस जनता की योग्यता के अनुकूलतम उस समय के लिये है । भविष्यत् में वह दूसरे कानून के योग्य हो सकती है। कानून चूकनेवाला और अपूर्ण होता है, परन्तु यह सदाचार के मन्दिर को स्थापित रखने के लिये आवश्यक स्तम्भ है। यह सदाचार की साधारण भावना है और अल्पकाल-स्थायी रूप में परिणत हुआ है जिससे उन मनुष्यों के लिये पथप्रदर्शन हो जो उस रूप के बनाने वाले हैं। प्रत्येक कानून मध्यगति का होता है और किसी न किसीको अखरता अवश्य है ।

सदाचार की उपयोगिता शाखावाले यह दिखलाते हैं कि मनुष्य उस वस्तु को अनुचित कहता है जिसका बर्ताव उसके ऊपर पीड़क या असुखकारक होता है । उदाहरण के लिये, मनुष्य बध किया जाना या लूटा जाना नहीं पसन्द करता और इसलिये यह भावना धारण करता है कि बध करना या लूटना अपराध है, और क्रमशः ऐसा कानून बनाता है कि उन अपराधों की रोक और उनका दण्ड हो। वह इस बात से सहमत होता है कि यदि सर्वसाधारण लोग बध और डांका के रोकने का कानून बना कर हमें अभयदान देंगे तो हम भी बध न करेंगे और डांका न डालेंगे। इसी प्रकार वह देखता है कि यदि कोई मनुष्य अपने बच्चे का भरण-पोषण नहीं करता तो जन समुदाय को हानि होती है और इसलिये वह इस कर्म

को अनुचित कहता है और इस सदाचार विषयिक भावना के कारण ऐसे कानून बनते हैं कि यह अपराध रोका जाता है, और इसी प्रकार सब कानून बना करते हैं। उपयोगितावादी का यही तर्क है और जहाँ तक यह तर्क जाता है ठीक ही है, क्योंकि यही कानून और कानूनरचना का इतिहास है और साथ ही उचित और अनुचित की सदा उन्नतिशील भावना का एक अंग है। परन्तु इसके सम्बन्ध में इस स्वार्थपर भावना के अतिरिक्त और कुछ अधिक भी है, जो यद्यपि स्वार्थ-परता है परन्तु अपने स्थान और काल में ठीक ही है जैसे सब स्वार्थपरता की बातें हैं और रहीं हैं। उपयोगितावादी इस बात पर ध्यान नहीं देते कि जाति के जीव के विकास के कारण मनुष्य दूसरों की पीड़ा का अधिक और अधिक अनुभव करते हैं और वह दूसरों की पीड़ा असह्य हो जाती है तब उचित और अनुचित की नई भावनायें प्रगट हो जाती हैं— ऐसी अवस्था में नये कानून बनते हैं। ज्यों २ जीव का विकास होता है त्यों २ वह अन्य जीवों के साथ अधिक और अधिक सामीप्य का अनुभव करता है—वह सब वस्तुओं की एकता की भावना की ओर वृद्धि कर रहा है—और भावना तथा क्रिया स्वार्थपर होते हुए भी ये बढ़े हुए आपे की भावना और क्रिया है। मनुष्य की न्यायवृत्ति केवल इसी लिये नहीं बढ़ती कि उसकी बुद्धि इन्साफ की उच्चोच्च भावना रखने लगती है किन्तु इस कारण से भी बढ़ती है कि उसका विकसताहुआ जीव दूसरों के साथ के सम्बन्ध को घना और घना प्रतीत करने लगता है और दूसरों की पीड़ा और उनपर अत्याचार से

असुखी हो जाता है। उसका अन्तःकरण बढ़ रहा है और उसके प्रेम और समझ विस्तृत हो रहे हैं। पहले मनुष्य अपने ही लिये चिन्ता करता है और दूसरों को पराया समझता है। फिर वह अपनी पत्नी, बच्चे और माता पिता के साथ एकता का अनुभव करने लगता है, तब अपने वंश भर से एकता का सम्बन्ध अनुभव करता है; फिर अपनी जाति का; फिर अपनी जाति समुदाय का; और तब अपने देश की साधारण जनता के साथ एकता अनुभव करने लगता है। फिर उन अन्य जनताओं से जो एक ही भाषा बोलती है या एक ही मजहब की है। तब अपने रंग के सब मनुष्यों के साथ एकता का अनुभव करता है। तब सारी मनुष्य जाति से; और अन्त में सभी जीवों के साथ एक हो जाता है। फिर जीव और निर्जीव सब वस्तुओं से अपनी एकता का नाता देखने लगता है। ज्यों २ मनुष्य का एकता का भाव विस्तृत और विकसित होता है त्यों २ वह इन्साफ़ और उचित की उच्च और उच्च भावनाओं को धारण करता जाता है। यह सब बुद्धि ही की बात नहीं है। आध्यात्मिक मन की ज्योति भी अधिक २ तीव्र होती जाती है और बुद्धि अधिक २ प्रकाशवती होती जाती है। ज्यों २ प्रकाश बढ़ता है मनुष्य की न्यायभावना भी बढ़ती और फैलती है और उचित तथा अनुचित की नई भावनाएं प्रगट होने लगती हैं।

इस प्रकार आप देखते हैं कि उपयोगिता की भावना जहाँ तक जाती है ठीक है, परन्तु इसको बुद्धिपूर्वक समझने के लिये यह आवश्यकता है कि बुद्धि के साथ २ मन के उच्च-

तर तत्वों का भी विचार करना चाहिये। मनुष्य को प्रतीत होता है कि केवल अधिकांश ही का सुख नहीं किन्तु सब का सुख आदर्श है। वह समझने लगता है कि जबतक सब नहीं सुखी होते तबतक हम अकेले पूर्ण सुखी नहीं हो सकते। वह अनुभव करता है कि जबतक सबके साथ इन्साफ़ नहीं होता तबतक किसीको भी नहीं प्राप्त होता। और इसी लिये वह अपने यथासाध्य अच्छे और अधिक अच्छे काम करता जाता है गलतियाँ करता है, ठोकरें खाता है, मूर्खता करता है, पर सर्वदा मन के उस बढ़ते हुए तत्व से प्रेरित हुआ करता है, जिसे वह समझता नहीं (जबतक उसकी आंखें नहीं खुलतीं) परन्तु जो इसे बहुत असुखी और बेचैन बनाये रहता है और जो इस किसी अज्ञात वस्तु की खोज में आगे बढ़ाता रहता है। अब मित्रो! आप लोग देखने लगे हैं कि क्या मामला है, इसलिये आपको कम पीड़ा प्रतीत होगी। आपकी समझ अब नीरोग हो रही है और आप पृथक् खड़े होकर मानव जाति की विपत्तियों को इस उचित और अनुचित के विषय में देख सकते हैं कि कैसे वे मूर्खता की खुजली के कारण दुःख भोग रहे हैं। परन्तु सावधान रहिये कि उन के परिपाक होने के पहले किस तरीके से आप उन्हें सुधारा चाहते हैं। ये सब तुम्हारे ही ऊपर टूट पड़ेंगे और तुम्हें फाड़ डालेंगे और तुम्हें पापी, नास्तिक, अराजक इत्यादि कुनाम देवेंगे। उनको उनके उन अचूक कानून, नीति और सदाचार की संहिता के साथ छोड़ दीजिये जो रात ही भर में परिवर्तित हो जाते हैं। उनको अपना कानून बनाने और बिगाड़ने

दीजिये क्योंकि उनके लिये वही अच्छी वस्तु है और ऐसा करने की उन्हें आवश्यकता भी है कि वे अपनी विपत्तियों से बाहर आवें। उन्हें अपने तईं लाल फीतों और जंजीरों से बाँधने दीजिये यदि वे चाहें; और उन्हें अपने उस भाई के साथ घृणा प्रकाश करने दीजिये जो उसी प्रकार नहीं देखता जैसे वे देखते हैं, क्योंकि यह उनकी प्रकृति है और उनके विकास का एक अंग है। पर इन बातों का असर अपने ऊपर मत पड़ने दीजिये। आप जानते हैं कि कानून और सदाचार के सदा परिवर्तित होने की प्रणाली विकास रूपी महा पुरुषार्थ का एक अंग है; और प्रत्येक एक पग ऊपर की ओर है और कोई पग भी पूरा और अचूक नहीं है। आप जानते हैं कि जबतक ईश्वर को पिता होने और सब मनुष्यों के परस्पर भाई होने का पूरा अनुभव न जगेगा, जबतक सब लोगों के एक होने की भावना का उदय न होगा, तबतक वास्तविक शान्ति और विश्राम न मिलेंगे। अलग खड़े रहिये और लड़कों को खेलने दीजिये।

जीव के विकास की भावना आपको एक ऐसी कुंजी दे देती है कि जिससे आप इस परिवर्तन और बेचैनी को भली भांति समझ सकते हैं कि कैसे ये मानव कानूनों के द्वारा मानवी आवश्यकताओं के पूरा करने के यत्न में लगे हैं और कैसे ये मानव, सापेक्ष गज और पैमाने के द्वारा उचित और अनुचित की परम मर्यादा को स्थापित किया चाहते हैं। मानव जाति अपने यथासाध्य अपना सर्वोत्तम ही कर रही है, प्रत्येक व्यक्ति यथाशक्य अच्छा ही कर रही है, क्योंकि

आत्मा के प्रकाश द्वारा ऊपर की ओर चढ़ाई जा रही है। आप जिसे सर्वोत्तम देखें उसीमें लग जायें, पर यह बात ध्यान में रक्खें कि यह सर्वोत्तम भी आगे आनेवाले वास्तविक उत्तम के लिये एक सोपानमात्र है, परन्तु उसके साथ घृणा मत कीजिये जिसका सर्वोत्तम तुम्हारा निकृष्ट है। मानव क़ानून को तुच्छ न समझिये, यद्यपि आप उसकी त्रुटि को देख रहे हो। इस कानून की आवश्यकता है और जाति के विकास में एक प्रधान पग है। यद्यपि यह परिमित, सापेक्ष और अपूर्ण है तौ भी यह वर्तमान मनुष्य जाति की योग्यता के लिये अनुकूलतम है। स्मरण रखिये कि सर्व, एक और परम को छोड़ कर और कोई वस्तु अनन्त, परम और पूर्ण नहीं है। इस बात को भी स्मरण रखिये कि जाति धीरे २ उस एक की समझ, चेतना और सायुज्यता की ओर विकसित हो रही है। और आप जो उस समझ, चेतना और बोध में प्रवेश कर रहे हैं, जो "मैं हूं" इस वाक्य का अर्थ समझने लगे हैं, और आप उस चट्टान की भांति हो जाइये जिस पर समुद्र की लहरें टकराया करती हैं। सापेक्ष वस्तुओं को अपने ऊपर टकराने दीजिये परन्तु आप अटल बने रहिये क्योंकि वे आप को कुछ भी क्षति नहीं पहुँचा सकतीं। वे आप को ताज़ा और साफ़ बना सकती हैं और जब ये समुद्र की ओर लौट जावेंगी तब भी आप दृढ़ और अटल बने रहेंगे। जैसे कोई मनुष्य अपने मकान की खिड़की से लड़कों को खेलते, झगड़ते, सुलह करते, अपनी क्रीड़ा करते, नियम बनाते, दण्ड देते, पुरस्कार दान करते हुए देखता है वैसे ही

आप अपने आस पास के उन मनुष्यों को देखिये जो इन बातों को बड़े गम्भीर रूप से कर रहे हैं। और दोनों दशाओं में अपना प्रेम और अपनी समझ भेजते रहो, यद्यपि वे आपके अभिप्राय को न जानें और आपके भाव को न समझें।

हम आशा करते हैं कि हमने आप लोगों को सदाचार की तीन युक्तियों, ईश्वरादेश, अन्तःकरण या प्रतिभा और उपयोगिता को भली भांति समझा दिया है कि ये परस्पर विरोधी नहीं किन्तु एक दूसरे की पूरक हैं। प्रत्येक युक्ति तथ्य के अपने एक पटल को दिखलाती है, प्रत्येक अपना पाठ पढ़ाती है। ये तीनों स्तम्भ मिलकर धर्म को धारण किये हुये हैं। अब धर्म को समग्र समझ कर उस पर विचार कीजिये।

जैसा कि हम पीछे कह आये हैं धर्म की परिभाषा उचित कार्य है, अथवा यदि हम इसको और भी अधिक स्पष्ट किया चाहें तो कह सकते हैं कि "धर्म क्रिया और जीवन का वह नियम है जो व्यक्तिगत जीव की आवश्यकताओं के अनुकूलतम है और उस व्यक्ति विशेष को उसके विकासपथ में आगे उच्चतम पग है"। जब हम किसी मनुष्य का धर्म कहते हैं तो हमारा अभिप्राय उसके जीव के विकास और तत्कालीन आवश्यकताओं के विचार से उसके लिये उच्चतम मार्ग है।

अब हमारे शिष्यगण इस भावना को समझ गये होंगे कि धर्म का शास्त्र ऐसी धारणा रखता है कि उचित और अनुचित सापेक्ष शब्द हैं और जो कुछ परमोचित है वह स्वयम् परम पुरुष में अधिष्ठित है और परम अनुचित कोई वस्तु ही नहीं है। जिस सापेक्ष अनुचित को हम देखते हैं, जब हम "अनु-

चित" शब्द का व्यवहार करते हैं, वह वह कार्य है जो उचित की नीच भावना से उत्पन्न हुआ है अथवा कर्ता की उचित सम्बन्धिनी उच्चतम भावना के अनुसार नहीं है। संक्षेप में कोई कार्य अपने आप परम अनुचित या परम बुरा नहीं है; और केवल उसी दशा में अनुचित और बुरा है जब कर्ता या द्रष्टा की दृष्टि में उचित की उच्चतम भावना तक नहीं पहुँचता। यह भयंकर मत प्रतीत हो सकता है, परन्तु आइये इस पर क्षण भर विचार करें।

आप इतिहास और मनुष्य के विकास की कथा को अध्ययन करने से पावेंगे कि मनुष्य की वहशी दशा में उसके उच्चतम आदर्श नीच जन्तुओं के आदर्श से थोड़े ही हट कर थे। बध करना, चुराना और झूठ बोलना अनुचित नहीं समझा जाता था। सच तो यह है कि बाजी २ जातियाँ उस मनुष्य का अधिक आदर करती थीं जो इन कामों को करता था, परन्तु केवल उसी दशा में जब ये कार्य उन मनुष्यों के साथ किये जाते थे जो परिवार या वंश के वृत्त के बाहर होते थे। अपने ही वंश के मनुष्य को मार डालने में प्रधान आपत्ति इस लिये लाई जाती थी कि इस क्रियागति से वंश की युद्धशक्ति और रक्षाशक्ति क्षीण होती है; और क्रमशः यह भावना चित्त पर जम गई कि अपने ही वंश के मनुष्य को मार डालना अनुचित है; परन्तु यही कार्य उचित है जब वंश के बाहर के मनुष्य को मार डाला जाय। अब यह बात हमें बहुत ही क्रूर प्रतीत होती है, परन्तु इसके चिन्ह अब भी हम लोगों के जमाने तक पाये जाते हैं जब कि इत्थंकथित सभ्य मनुष्य

दूसरी जाति या जनता वाले मनुष्यों को मार डालना, बांध लेना या उनकी सम्पत्ति को लूट लेना उचित समझते हैं पर उस दशा में जब युद्ध की घोषणा हो गई हो। वहशी मनुष्य इस विषय को इसके तार्किक परिणाम तक पहुँचा देता था और युद्ध घोषणा की प्रतीक्षा नहीं करता था, यही प्रधान अन्तर है। हम प्रारम्भिक सभ्यता के मनुष्यों को उन सब कार्यों को करते हुए पाते हैं जिन्हें अब हम अपराध कहते हैं, और वे निन्दित नहीं समझे गये जब कि अपराध उस मनुष्य के साथ किया गया हो जो अपने वंश के वृत्त से पर्याप्त बाहर हो; और उस काल के रिवाज और सदाचार के अनुसार जितना ही बड़ा अपराध होता उतना ही अधिक उचित और भला वह समझा जाता।

ज्यों २ जाति ने विकास किया त्यों २ बहुत सी उचित बातें उपरोहितों और पैगम्बरों के कहे हुए ईश्वरादेश के अनुसार अनुचित और बुरी मानी जाने लगीं। मनुष्य के परस्पर सम्बन्ध को अज्ञातरूप से अनुभव करने के कारण जो उसके अन्तःकरण में जागृति हुई उसने भी इन्हें बुरा ठहराया; और मनुष्य जाति की पुष्ट होती हुई बुद्धि में भी उपयोगिता और देशहित की भावना ने कार्य कर के इन्हें अनुचित माना और ज्यों २ जाति का विकास और खिलना हुआ त्यों २ आदर्श विस्तार और उच्चता को प्राप्त होते गये। एक सौ बरस बीते जो बातें पूरी उचित और न्याययुक्त उस काल के सर्वोत्तम मनुष्यों द्वारा समझी जाती थीं अब वही बातें बहुत ही अनुचित और नीच समझी जाती हैं। और बहुत सी बातें जो आज हमें पूरी

पूरी उचित जँचती हैं वही हम लोगों की सन्तानों द्वारा कभी वहशी, अनुचित और प्रायः अविश्वसनीय समझी जाने लगेंगी। मध्यकाल के जीवन का एक अध्याय उदाहरण के लिये पढ़िये और देखिये कि कैसे आदर्श और सदाचार में परिवर्तन हुआ है। तब अमेरिका में देखिये कि क्रीतदास की प्रथा अब पचास वर्ष पीछे की अपेक्षा, एक सौ वर्ष पीछे की बात तो जाने दीजिये, कैसी समझी जाती है। तब बेलमी साहब की "पश्चात दर्शन" (Looking Backward) नामक किताब पढ़िये और देखिये कि किस प्रकार सम्भव है कि सारे देश के सर्वसाधारण की मति बदल जाय। हम इस किताब का उल्लेख उदाहरण रूप में करते हैं, हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि उस किताब में लिखे ही हुए परिवर्तन घटित होंगे, यद्यपि हम जानते हैं कि उन्हीं की भांति प्रधान और मौलिक परिवर्तन आगे उपस्थित हैं।

अपने जमाने में भी हम देखते हैं कि भिन्न २ पुरुषों और स्त्रियों द्वारा, जिनके विकास की कक्षा भिन्न २ है, भिन्न २ आदर्श धारण किये गये हैं; और सब लोग उचित और अनुचित विषयक किसी एक स्थिर और निर्धारित मर्य्यादा को नहीं धारण करते। हम सदाचार की स्थूल बातों में तो सहमत हो सकते हैं पर अप्रधान बातों में जा कर स्पष्ट मतभेद कर देते हैं। जनता की साधारण बुद्धि और अन्तःकरण का द्योतन उसके कानूनों और साधारण मत से होता है, यद्यपि जैसा कि हम पहले कह आये हैं. मनुष्य समाज के साधारण आदर्श की अपेक्षा भी कानून थोड़ा पीछे रहता है, ठीक उसी

प्रकार जैसे साधारण अन्तःकरण, साधारण आचार नियमों की अपेक्षा थोड़ा आगे रहता है। साधारण मनुष्य अपने वर्तमान कानूनों से भले सन्तुष्ट रहता है, यद्यपि उन लोगों में से कुछ लोग जिन पर इस कानून का भार अखरता है, यह विचार करते हैं कि यह कानून बहुत ही कठोर और भलाई की कल्पित भावना के आधार पर अवलम्बित है; और यही कानून सर्व-साधारण की अपेक्षा अधिक विकसे हुए मनुष्यों के लिये अविकसित आदर्श और अत्यन्त नीच आधार पर स्थापित प्रतीत होता है और प्रायः अनर्गल, अयुक्त, अन्याय और सदाचार के बढ़े हुए आदर्श पर नहीं स्थापित विचारा जाता है।

केवल अच्छी ही बातें ज्यों २ समय बीतता है त्यों २ बुरी नहीं हो जातीं किन्तु बहुत सी बुरी बातों की भी बुराई क्षीण होने लगती है और जब उच्च ज्ञान की दृष्टि से वे देखी जाती हैं तो पूरी २ भली और उचित जान पड़ने लगती हैं। बहुत सी बातें इसलिये बुरी गिनी गईं कि वे उस समय के प्रचलित मज़हब या सामाजिक अवस्था के अनुकूल न थीं; पर ज्यों २ रिवाज बदलते गये और मज़हबी भावनायें उन्नत हुईं त्यों २ उनकी बुराई जाती रही। इन बातों में से बहुत सी बातें भिन्न २ काल के पुरोहितों द्वारा निषिद्ध ठहराई गई थीं जिनके कारण उन्हीं पुरोहितों ही को सन्तोष देनेवाले और उन्हींके बड़प्पन को बढ़ानेवाले थे।

आप देखेंगे कि ज्यों २ समय बीतता है त्यों २ साधारण बुद्धि और साधारण अन्तःकरण जनतामत और कानून का

रूप धारण कर के साथियों पर अधिक ध्यान दिलाया चाहते हैं, और अधिक दया दिखलाने का आग्रह करते हैं। यह मनुष्यों के परस्पर सम्बन्ध की घनिष्टता की भावना के उदय होने से होता है—इस ज्ञान के बढ़ने के कारण कि सभी एक हैं (यह ज्ञान प्रायः अचेतन होता है)। और आप इस तथ्य को भी देखेंगे कि जब उपर्युक्त विषय में उच्च मर्य्यादा चाही जाती है तो मनुष्य के निज आपे सम्बन्धी विचारों, जीवन और क्रियाओं में निषेध की मात्रा कम होने लगती है। जब प्रति वर्ष मनुष्य के अधिक २ उदार होने की आशा की जाती है तब उसे अधिक २ स्वतन्त्रता भी दी जाती है; और उसे पद, खुला क्षेत्र, और उसकी क्रियाओं, पसन्द, भावनाओं, व्यक्तित्व, और आपे के समुचित विस्तार के सुअवसर दिये जाते हैं। बन्धन हटाये जाते हैं, निषेध उठा लिया जाता है और मनुष्य को अवसर मिलता है कि वह निर्भय हो कर प्रसन्नता से जीवन को जिये, परन्तु शर्त यह है कि वह अपने भाइयों और बहनों के साथ उच्चतम मात्रा में दया का बर्ताव करे।

अब धर्म की यह भावना—यह ज्ञान, कि उचित और अनुचित ये दोनों सापेक्ष और परिवर्तनशील हैं, न कि परम और स्थिर हैं, किसी मनुष्य को उस बुराई या अनुचित के करने का बहाना नहीं देता, जिसे वह पुरानी भावना के अनुसार कदापि न करता। इसके विपरीत मनुष्य को धर्म उसके उचित सम्बन्धिनी उच्चतम भावना की ओर उठाता है और उससे आशा करता है कि उचित कार्य को केवल औचित्य के

कारण करो और इस लिये न करो कि कानून इसे करने के लिये तुम्हें विवश करता है। धर्म आपसे उचित कार्य की आशा करता है चाहे कानून उस ऊँची मर्यादा तक न भी पहुँचा हो। धर्म यह शिक्षा देता है कि यदि आप किसी कार्य को अनुचित समझते हैं तो उसको करना आपके लिये अनुचित ही है, चाहे कानून और जनता की सम्मति सदाचार की इस उच्च मर्यादा तक न पहुँची हो। उन्नत मनुष्य सर्वदा सर्व-साधारण की भावना की अपेक्षा आगे ही रहेगा, पीछे कभी न रहेगा।

धर्म यह शिक्षा कदापि नहीं देता कि इस कारण कि कोई मनुष्य अपने साथी के साथ अपराध करने को उचित समझता है, इसलिये उसे बिना रोक टोक के उस अपराध को करने देना चाहिये। कोई मनुष्य उस बिल्ली को जो चोरी करती है या उस लोमड़ी को जो मुर्गी के बच्चों को मार डालती है बुरी नहीं कहता, परन्तु इन्हें मनुष्य की हानि करने से रोकने के लिये सभी को अधिकार है। वैसे ही समाज के जो अपराधी हैं, उन्हें ऐसा समझते हुए कि उनके कार्य, उनके अविकसित मन और जीव तथा मूर्खता के परिणाम हैं, हमें न्यायतः अधिकार है कि हम उन्हें इन दुराचारों से रोकें। परन्तु भावना दण्ड की न होनी चाहिये किन्तु रोक और सुधार की होनी चाहिये। अपराधी लोग वस्तुतः वहशी और असभ्य क्रूर होते हैं, और उनके कार्य यद्यपि हमारी दृष्टि से नितान्त अनुचित हैं पर उनकी दृष्टि से उन्हें उचित प्रतीत हो ते थे। और इन अपराधियों के साथ वैसा ही बर्ताव करना

चाहिये जैसे अविकसित, मूर्ख और नादान भाइयों के साथ किया जाता है क्योंकि ये भी तो भाई ही हैं।

धर्म का यह नियम है कि अपनी सर्वोच्च भावना के अनुसार जीवन जिये, इसकी कुछ चिन्ता नहीं कि सर्वोच्च भावना ईश्वरादेश, प्रतिभा या अन्तःकरण अथवा उपयोगितानुसारिणी बुद्धि द्वारा उदित हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि इन सब तीनों द्वारों से उसे कुछ २ प्राप्त हुआ है; और उसकी सर्वोच्च भावना इन तीनों प्रभावों का मिश्रण है। जब कभी संदेह में पड़ो तो अपने को आत्मा के प्रकाश के आने के लिये खोल दो और आपकी सर्वोच्च भावना स्पष्ट रूप से प्रकाश के प्रभाव में उदित हो जावेगी। वही आपकी सर्वोच्च भावना आपका धर्म है।

धर्म का दूसरा नियम है कि उस दूसरे मनुष्य के धर्म में दोष दर्शन करने और उसे तुच्छ ठहराने से प्रथक् रहिये, जो आपकी अपेक्षा कम विकसित है। वह आपकी आंखों से नहीं देख रहा है, वह आपके पद पर नहीं स्थित है। सम्भव है कि वह अपनी मर्य्यादा के उसकी अपेक्षा अधिकतर निकट हो जितना कि आप अपनी मर्यादा के निकट हैं। आप उस पर विचार करने की कैसे हिम्मत करते हैं? क्या आप ऐसी पूर्णता को पहुँच गये हैं कि अपनी ही मर्य्यादा सब के लिये स्थापित कर रहे हैं? क्या आपका उच्च आदर्श और उच्च कर्म परम से एक गज के फासले पर भी रह कर परम की तुलना कर सकता है? क्या आपने कभी इस बात पर भी विचार किया है कि यदि आप भी ठीक २ उसी दशा

में होते जिसमें आपका यह तुच्छ भाई या बहन है तो आप भी वैसा ही करते ? आप अपने को ठीक २ उनकी दशा में नहीं कल्पना कर सकते, क्योंकि आप जैसे हैं उसी पर विचार कर सकते हैं ; और जब आप अपने को उनकी अवस्था में कल्पना किया चाहते हैं तब भी आप अपने ही पर ( जो अपने पूर्व अनुभवों और वर्तमान गुणों से विशिष्ट है ) उस पराये के मांस और वस्त्र से आच्छादित होकर विचार करते हैं। यह एक ही कदापि नहीं है। यदि आप ठीक उनके समान हुआ चाहें तो आप को अपने पिछले अनुभवों और वर्तमान गुणों को त्याग देना पड़ेगा और इनके स्थान पर उस मनुष्य के अनुभवों और गुणों को धारणकरना होगा। और इस दशा में आप अपने आपे को त्याग कर उस पराये का आपा हो जायंगे और क्या तब भी आप ( वह हो जाकर ) उससे भिन्न कर्म कर सकेंगे ?

जो शिष्य कि हमारे साथ सदाचार की इन व्याख्याओं, धर्म के तीन स्तम्भों का अध्ययन कर चुका है अब स्वभावतः पूछ सकता है कि इस संगठन का मुकुट क्या है, अधिकारी लोगों के लिये धर्म कौन सा आदर्श खड़ा करता है ? जब इन तीन खंभों पर अवलम्बित धर्म के मन्दिर में कोई पहुँच जाय तो उसे वहाँ क्या मिलता है ? आइये देखिये कि धर्म इन प्रश्नों का क्या उत्तर देता है।

धर्म की दृष्टि से उचित कर्म के विचार में प्रधान बात स्मरण योग्य यह है कि मनुष्य का जीव विकास की दशा में है। यह कक्षा पर कक्षा नीचातिनीच दशा से उच्चातिउच्च

दशा की ओर गति कर रहा है। पृथकत्व की भावना से एकत्व की भावना की ओर चल रहा है यही विकास जीवन का उद्देश्य और ईश्वरीय नियम है। जब ऐसी दशा है तब क्या आप नहीं देख सकते कि उस विकास के पथ पर जो बात उसे सहायता देगी और उसके वेग को तीव्र बनावेगी वही भली और उचित है ? और वैसा ही सत्य यह कथन है कि जिस बात से उसके विकाश में बाधा पड़े और गति अवरुद्ध हो वह बुरी और अनुचित है जब इसी परिमाण से नापी जाती है। यह सत्य है कि "बुरी" और "अनुचित" के स्थान पर उसे "भली नहीं" और "उचित नहीं" कह सकते हैं, या यदि आप चाहें तो "कम भली" और "कम उचित" कह सकते हैं, परन्तु अर्थ एक ही है चाहे जो शब्द व्यवहार में लाये जायँ। उचित और भले कार्य तो विकास मे सहायक होते हैं, और अनुचित तथा बुरे उसमें बाधा पहुँचाते हैं। व्याघ्र के लिये उचित है कि वह लहू का प्यासा और क्रूर हो, क्योंकि ऐसा होना विकास की उसकी कक्षा के विपरीत नहीं है, परन्तु विकसित मनुष्य के लिये उस कक्षा में या उसके समान कक्षा में लौट आना अनुचित है, क्योंकि यह पीछे हटना और पतित होना है। उन्नत मनुष्य के लिये इर्षा, द्वेष, मत्सर आदि अनुचित होंगे, क्योंकि इनमें पड़ना उन कक्षाओं में लौट जाना है जिन्हें हम बहुत दिन हुये कि पार कर आये हैं, और यह लौटना हमारे ज्ञान और प्रतिभा के प्रतिकूल होगा। धर्म के मन्दिर में ऊपर चढ़ने में एक मनुष्य तीसरी सीढ़ी और दूसरा पाँचवी सीढ़ी पर हो सकता है। यदि पांचवीं सीढ़ी का

मनुष्य चौथी सीढ़ी पर उतर जाय तो उसके लिये यह पीछे जाना या पतित होना है जो अनुचित बात है, और तीसरी सीढ़ी का मनुष्य यदि उसी चौथी सीढ़ी पर चढ़ जाय तो उसके लिये वह आगे बढ़ना या उन्नति करना है और इस लिये यह बात उचित और अभीष्ट है क्योंकि यह आगे बढ़ना है। विकास और प्रफुल्लन का नियम आगे बढ़ाता है। जो कुछ इसमें सहायता पहुँचाता है वह अभीष्ट और उचित है; जो कुछ इसमें बाधा पहुँचावे वह अनिष्ट और अनुचित है। यदि किसी अध्यापक के पास मन्दबुद्धि और स्वेच्छाचारी विद्यार्थी हो और उसके साथ कठिन परिश्रम करने पर यदि अध्यापक उसे थोड़ा भी अच्छा काम करते पाता है तो वह उसकी प्रशंसा करता है और आप बहुत प्रसन्न होता है। परन्तु वही अध्यापक बहुत दु:खी हो जावेगा जब उसका कोई सुविज्ञ और सदाचारी विद्यार्थी ठीक वही कार्य करेगा जिसके लिये उसने अभी अपने मन्दबुद्धि विद्यार्थी की प्रशंसा की है। परन्तु तिस पर भी कार्य दोनों एक ही हैं जब एक दृष्टि से देखे जाते हैं, परन्तु विस्तृत दृष्टि से देखने में वे कैसे भिन्न २ हैं। अब आप समझ गये कि हमारा क्या अभिप्राय है ?

हे प्यारे मित्रो और विद्यार्थियो ! अपने सर्वोत्तम आदेश के अनुसार जीवन को जीते जाओ। अपने हृदय में बुराइयों के मूल को ढूँढ़ो और उसे दूर करो। अपने भीतर के वन्य पशु को पालतू बनाइये। गत काल के इन अवशिष्टों को निकाल बहाइये। अपनी प्रकृति के बीच पाशविक अंगों को बन्धन में रखिये, हिंसक जन्तु के दांतों और पंजों की चिन्ता न करके

उसे भगा कर पिंजड़े के एक कोने में बन्द कर दीजिये। वृद्धि, पुष्टि और विकास करना सीखिये। जबतक आप सिद्धि की उस सीढ़ी तक न पहुँच जायें जहाँ से आप गत बातों पर दृष्टि डाल सकें और यह अनुभव करें कि आपकी गत बातों का भी आप के लिये अंगभंग होगया है, क्योंकि तब आप असली आप की चेतना में प्रवेश कर चुके रहेंगे और वस्तुओं को यथार्थ रूप में देखने लगेंगे। तब आपको आत्मा का प्रकाश आवरणों के विना अवरोध के मिलने लगेगा। "मार्ग में प्रकाश" के शब्दों को स्मरण रखिये, उस धुंधले तारे के सम्मुख जो आपके भीतर चमक रहा है, अपने जीव से सादर प्रणाम करवाइये! ज्यों २ स्थिरता से आप उसका निरीक्षण और पूजन करेंगे त्यों २ उसका प्रकाश तीव्र होता जायगा। तब आपको जान पड़ेगा कि आपके पथ का आरम्भ आपको मिल गया, और जब आपको अन्त भी मिल जायगा तब तुरंत उसका प्रकाश अनन्त हो जायगा।"

आपको शान्ति प्राप्त हो।

मुद्रक—गणपति कृष्ण गुर्जर श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस।
प्रकाशक—ठा० प्रसिद्धनारायण सिंह, देशसुधार ग्रन्थमाला आफिस, बनारस।

## योगी रामाचारकजी की योग ग्रन्थावली

*डा० प्रसिद्धनारायण सिंह द्वारा अनुवादित ।*

# श्वासविज्ञान अर्थात् प्राणायाम ।

सन्निविष्ट विषय:—जय हो, श्वास ही जीवन है, श्वास क्रिया पर स्थूल विचार, श्वास क्रिया पर सूक्ष्म विचार, नाड़ी संस्थान, नाक से श्वास लेना और मुँह से श्वास लेना, श्वास लेने के चार प्रकार, योगी को पूरी सांस कैसे प्राप्त होती है, पूरी सांस का शारीरिक प्रभाव, योग विद्या के कुछ अंश, योगियों की प्रधान श्वास क्रियायें, योगियों की सात छोटी कसरतें, कम्प और योगी की तालयुक्त श्वास क्रिया, मनः संयुक्त श्वास का रूप, योगी की मानसिक श्वास के और भी प्रयोग, योगी की आध्यात्मिक श्वास क्रिया कुल १२५ सफहे । मूल्य ॥)

# हठयोग अर्थात् शारीरिक कल्याण ।

सन्निविष्ट विषय:—हठयोग क्या है ? शरीर पर योगी का ध्यान, दैवी कारीगर की कारीगरी, हमारा मित्र जीवन बल, शरीर की रसायनशाला, जीवन द्रव, देह में का स्मशान, पोषण, भूख और भोजनातुरता, भोजन से प्राण प्राप्त करना, देह की सिंचाई, शरीर यंत्र की राख और फुजला, योगियों की श्वास क्रिया, सही सांस लेने का प्रभाव, श्वास के अभ्यास, नाक तथा मुहँ से श्वास, शरीर के अणुजीव, प्राण शक्ति, प्राण के अभ्यास, शिथिलीकरण, योग व्यायाम, स्नान, सूर्य की शक्ति, निद्रा, नवजनन, मानसिक स्थिति, आत्मा के अनुगामी बनो । कुल ३०५ सफहे । मूल्य १॥)

# योगत्रयी

## अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

सन्निविष्ट विषय:—

कर्मयोग में—प्रवृत्ति, योग का उद्देश्य और परिणाम, जीवन विकास, कर्म, विचार, कार्य और कारण, कामना, संसृति और असंसृति, व्यष्टि और पद्धति, दैवी प्रेरणा, सकाम और निष्काम कर्म।

ज्ञानयोग में—क्यों, किस लिये, कैसे और क्या, सत्य भीतर है, ईश्वर परमात्मा है, कार्यकारण शृंखला का आदि और अन्त परमात्मा, विश्व परमात्मा की निस्सृति, सर्व शक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, परमात्मा के तीन रूप—द्रव्य शक्ति और मन, परा अभिव्यक्ति, परमात्मा के व्यंजन, गुणों की प्राप्ति, मैं ईश्वर हूँ, निस्सरण, विश्वजीवित है।

भक्तियोग में—प्रत्येक योगी भक्त उपासना का पोषण, परमात्मा विषयिक भावना परिवर्तनशील, देवता, भिन्न २ पूजाओं का एक ही आराध्य देव, गौणी भक्ति, पराभक्ति, प्रतिमा, मज़हब, आनन्द, प्रेम, आवेश, प्रार्थना, परमेश्वर जीवन का केन्द्र, भक्त सुखदर्शी होता है, इत्यादि।



---